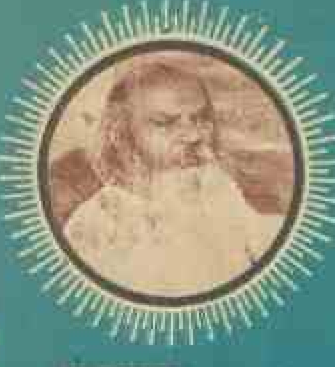

सिद्धयोग

संस्थापक
योग योगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्र मोहनजी महाराज

दिसम्बर १९९०

वर्ष
२३

अंक
६

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन
सँवाई, आगरा

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा
प्रकाशन
सवाई, आगरा

सम्पादक :
श्री 'दिव्य'

दिसम्बर
१९९०

इस अंक में पढ़िये—

★ अग्ने ! नय सुपथा राये (प्रार्थना) १
★ सिद्धकृपा : कब और कैसे ? (विशेष लेख) २
—श्री पूरनचन्द्र पन्त शास्त्री
★ यम-नियम का आराधन ! (सम्पादकीय) १०
★ रमता जोगी बहता पानी १३
★ पिंगला के भवन में कन्दर्पहर १४
—श्री विष्णुप्रसाद व्यास
★ योग के विघ्न एवं उनके उपाय १७
—श्री गिरीशदेव वर्मा
★ संकट में अभय तथा प्रकाश दर्शन २३
—श्री केशव उपाध्याय, वाराणसी
★ महर्षि रमण से पालब्रण्टन की वार्ता २६
—डा० विजयसिंह
★ योग-शास्त्र में सृष्टि २९
—डा० ऋषिराज वाशिष्ठ
★ सत्कार्यवाद तथा प्रकृति ३०
—श्री सुरेन्द्र बहादुरसिंह
★ पत्रम्-पुष्पम्-फलम्-तोयम् ३४
★ जीवन-काल और उसका प्रयोग ३६
—श्री मंजूरुल हसन
★ गुरुवर दो ऐसा वरदान (कविता) ३९
—श्री यशपाल
★ सत्यं-शिवं-सुन्दरम् ४०
★ निष्काम कर्मयोग साधना द्वारा—
आत्मा-परमात्मा का ज्ञान ४१
—श्री जगदीशनारायण उपाध्याय
★ विलय हो गया ! ४७
—आचार्य श्री केशवराम शर्मा
★ श्रद्धा सुमन ४९
—श्री अशोक कुमार गुप्ता

वार्षिक मूल्य ४० रुपया। एक अंक का ५ रुपया।

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवांई (एत्मादपुर) आगरा।

वर्ष २३ | अङ्क ९ | दिसम्बर १९९०

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुख विवर्त्तो, मुक्ति माप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्त्यर्थान् बहुविशदं योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः'॥

अग्ने ! नय सुपथा राये

अग्ने ! नय सुपथा राये अस्मान्

विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।

युयोध्यस्मज्जुहुराहुराणमेनो

भूयिष्ठान्ते नम उक्ति विधेम॥

(ऋ० १/१८९/१)

अर्थात्

हे अग्निदेव ! मेरे सर्वज्ञ भगवान् ! हमें अपना ऐश्वर्य देने के लिए सुपथ से ले चलो ! आप उन समस्त कर्मों तथा प्रणालियों को जानते है जिन पर चलने से ऐश्वर्य प्राप्त होता है। हमारे अन्दर से कुटिलता रूप पाप को हटा दो जिससे हम बार-बार आपके चरणों में प्रणत हो सकें आपका सामीप्य प्राप्त कर सकें।

यन्मन्यसे वरेण्यं इन्द्र द्युक्षं तदाभर।

विद्याम तस्य ते वयमकूपारस्य दावने॥

(ऋ० ५/३९/२)

अर्थात्

हे वैभव के कोश ! जिस धन को तुम मेरे लिए वरणीय, उपयुक्त समझो, वही धन तुम हमें दो। हम तुम्हारे उसी दान को प्राप्त करें जिससे कुत्सित नहीं, सुभग पूरण और पोषण होता हो।

हमारा विशेष लेख :

सिद्धकृपा : कब और कैसे ?

ब्रह्मलीन योगेश्वर प्रभु श्री चन्द्रमोहनजी महाराज का

अमर सन्देश

प्रेषक—श्री पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री

योग-योगेश्वर श्री गुरुदेव जी महाराज के मुखारविन्द से निसृत अमूल्य उपदेशों से यह महत्वपूर्ण अंश विद्वान लेखक बन्धु श्री पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री ने अपनी लेखनी की नोंक से सँवार-सुधारकर 'सिद्धयोग' के पाठकों के सामने लाने का सुप्रयास किया है। यदि पाठक श्रद्धापूर्वक इसे पढ़ेंगे तो उन्हें ऐसा प्रतीत होगा मानो श्री गुरुदेवजी से ही वे सब कुछ सुन रहे हैं। —सम्पादक

सिद्धों की दो श्रेणियाँ हैं—साधन सिद्ध और अनादि सिद्ध। दोनों की कृपायें समान रूप से अधिकारी व्यक्ति पर हुआ करती हैं। एक ओर ब्रह्मा, विष्णु, शिव, राम, कृष्ण, भगवती जगदम्बा आदि नामों से अनादि सिद्ध ईश्वर कृपा करते हैं तो दूसरी ओर उसी ऐश्वर्य से सम्पन्न सिद्ध योगिराज अपने भक्तों पर कृपायें किया करते हैं और जन-साधारण का हर प्रकार से कल्याण करते रहते हैं।

ये कृपायें कब, क्यों और किस प्रकार हुआ करती हैं, यह एक विचारणीय प्रश्न है? इस प्रश्न का उत्तर योग-योगेश्वर (योग के और योगियों के ईश्वर) श्रीकृष्ण ने इन श्लोकों में स्पष्ट रूपेण दिया है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता १०/९-१०)

मुझ परमेश्वर में निरन्तर मन लगाने वाले और मेरे में ही प्राणों को अर्पण करने वाले भक्त-जन सदा मेरी चर्चा द्वारा आपस में मेरे प्रभाव का वर्णन करते हुए तथा मेरा गुणगान करते हुए ही संतुष्ट रहते हैं और मुझ परमेश्वर में ही नित्य रमण करते हैं। उन मेरे ध्यान में लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजने वाले भक्तों को मैं वह तत्वज्ञान रूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको प्राप्त हो जाते हैं। इसलिए—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

(गीता)

इसलिए तू मुझमें मन लगा, मेरे में ही बुद्धि को लगा। ऐसा करने पर इसके उपरान्त तू मुझमें ही निवास करेगा। इसमें कोई संदेह नहीं है।

जब साधक उपरोक्त प्रकार से परमात्मा को आत्म-समर्पण कर देता है तो उस पर उस सर्व शक्तिमान की कृपायें बरसती ही रहती हैं। परमात्मा कौन? वह है आदि-योगी जिसके लिए शास्त्रों में कहा गया है--

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता,

पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।

स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता,

तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥

वह ईश्वर सबसे बड़ा योगी है और अपने योगैश्वर्य से ही भक्तजनों पर कृपा किया करता है। उस कृपा को पाने के लिए यह आवश्यक है कि साधक अपने इष्टदेव में अनन्य निष्ठा रखे और स्वाध्याय-परायण रहे। योग-दर्शन में एक सूत्र आता है---

स्वाध्यायादिष्ट देवता सम्प्रयोगः।

देवाः सिद्धाः ऋषयश्च, स्वाध्याय-शीलस्य दर्शनं गच्छन्ति कार्ये चास्य वर्तन्त इति।

अर्थात् देवता, सिद्ध और ऋषि लोग स्वाध्यायशील व्यक्ति के पास जाकर उसे दर्शन देते हैं और उसकी हर प्रकार से सहायता करते हैं।

स्वाध्याय और सिद्धकृपा

स्वाध्यायशील व्यक्ति पर सिद्ध लोग किस प्रकार कृपायें किया करते हैं। इस सम्बन्ध में मुझे एक घटना याद आ रही है और वह इस प्रकार है--

आज से कई वर्ष पूर्व ज्योतिप्रकाश आश्रम नामक एक जिज्ञासु व्यक्ति सिद्धों के दर्शनार्थ ऋषिकेश से चलकर गंगाजी के तटवर्ती वनों को पार करते हुए घोर जंगल में पहुँच गये और कई दिनों तक भूखे-प्यासे वहाँ भटकते रहे। उनकी दयनीय स्थिति पर द्रवित होकर एक ब्रह्मचारीजी उनके सामने प्रकट हुए और उनसे पूछा कि--तुम कौन हो और कहाँ से आये हो? उन्होंने उत्तर दिया--मेरा नाम ज्योतिप्रकाश आश्रम है और मैं सिद्धों के दर्शन के लिए यहां आया हूं। मैं यह निश्चय करके आया हूं कि मेरा शरीर भले ही न रहे किन्तु मैं सिद्धदर्शन किये बिना नहीं लौटूंगा।

इस पर ब्रह्मचारीजी बोले--सिद्ध लोग तो ऋषिकेश में भी बहुत रहते हैं, तुम्हें यहाँ आने की क्या आवश्यकता थी? अच्छा, बताओ तुम्हारा स्वाध्याय क्या है? अब तक कितना मन्त्र जाप कर चुके हो और उपनिषदों का कितना अध्ययन किया है? ज्योतिप्रकाश ने उत्तर दिया--

महाराज! मैंने अब तक किसी प्रकार का स्वाध्याय नहीं किया है? ब्रह्मचारीजी बोले--तो तुम सिद्ध-दर्शन के अधिकारी नहीं हो, जाओ यहाँ से लौट जाओ।

ज्योतिप्रकाश ने पुनः दीन भाव से निवेदन किया--महाराज! मैं यह निश्चय करके आया हूं कि--"कार्यं वा साधयामि देहं वा पातयामि" के अनुसार सिद्ध-दर्शन किये बिना मैं यहाँ से लौट नहीं सकता।

ब्रह्मचारीजी प्रसन्न होकर बोले--अच्छा, तुम्हारा यदि यही निश्चय है तो एक वर्ष तक इस पेड़ के नीचे बैठकर अमुक मन्त्र का जाप करते रहो और उसे एक जड़ी दिखाकर बोले--तुम इस जड़ी का सेवन करते रहो। इससे तुम्हें भूख-प्यास नहीं सतायेगी तथा तुम्हारा बल भी क्षीण नहीं होगा। एक वर्ष बाद हम पुनः मिलेंगे और तुम्हारी योग्यता देखकर तुम्हें सिद्ध-दर्शन करा देंगे।

स्वामी ज्योति प्रकाश आश्रम उन ब्रह्मचारी जी की आज्ञानुसार एक वर्ष लगातार मन्त्र-जाप करते रहे। इस बीच उन्होंने घोर तप किया। ठीक एक वर्ष बाद उन्हें उसी स्थान पर उक्त ब्रह्मचारी जी मिले और बोले—अब तुम सिद्धदर्शन के अधिकारी हो गये हो। चलो मेरे साथ, तुम्हें दर्शन करा दूँ। वे उन्हें अपने साथ ले गये और उन्हें बहुत लम्बे डील-डौल वाले एक योगी के दर्शन कराते हुए बोले—ये सिद्ध योगिराज मेरे गुरुदेव हैं। ये आजकल समाधि में है। सौ वर्ष के बाद ये एक दिन के लिये समाधि से उठते हैं। स्वामी ज्योति प्रकाश आश्रम ने पूछा—इनकी कितनी समाधियाँ आप देख चुके हैं?

उन्होंने उत्तर दिया—सात।

इसके बाद ब्रह्मचारी जी ने उन्हें आज्ञा दी—अब तुम यहाँ से लौट जाओ और उपनिषदों का अध्ययन करते रहो। अब तुम्हें ऋषिकेश में भी सिद्धदर्शन होते रहेंगे। स्वामी ज्योति प्रकाश आश्रम ने वहाँ से लौटकर बिजनौर में पण्डित भगवतदत्त श्रोत्रिय से उपनिषदों का अध्ययन किया और कुछ समय में ही वे प्रकाण्ड विद्वान बन गये। इसके बाद फिर उनका पता नहीं चला कि-वे कहाँ चले गये। इस प्रकार का स्वाध्यायशील व्यक्ति ही सिद्ध-कृपा का उत्तम अधिकारी होता है।

अनन्य भक्ति और सिद्धकृपा

भजनं सेवनं भक्तिः। भजन करना-सेवा करना, अपने इष्ट को आत्म-समर्पण करना भक्ति कहलाती है।

आम लोगों को प्रायः यह शंका रहा करती है कि-उस पर इतनी कृपा क्यों और मुझ पर क्यों नहीं? मेरे साथ वैसे चमत्कारपूर्ण घटनायें क्यों नहीं होती जैसे फलाने के साथ घटित होती रहती हैं। ऐसे लोगों के लिए सीधा सा उत्तर है।

तुम लोग वहाँ हो ही नहीं जहाँ इस प्रकार के काम हुआ करते हैं। तुम लोग तो परीक्षा लेने वाले हो और सोचा करते हो कि—"यदि मेरा अमुक काम हो जाय तो मान जाऊँगा कि योगी लोग शक्ति वाले हुवा करते हैं।" तुम मत मानो। वे तो जो कुछ हैं, हैं ही। तुम्हारे मानने या न मानने से उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।'

बजाय इस प्रकार की भावना रखने के ऐसे लोगों को अपने मन में यह विचार करना चाहिये कि-क्या उनका हृदय प्रेम से परिपूरित रहता है। क्या उनके अन्दर अनन्य निष्ठा है? क्या उनके चिन्तन में इष्टदेव के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता? यदि ऐसा है तो उन पर अवश्य कृपायें हुई होंगी और अवश्य चमत्कार हुए होंगे और होते रहेंगे।

वाणी का समर्पण तो हर व्यक्ति कर सकता है। तुम भी मुँह से भले जो कहते रहो—महाराज जी आप ही मेरे सब कुछ हैं, आपके सिवा मेरा कोई नहीं है किन्तु व्यवहार इससे विपरीत हो तो ऐसे प्रणिधान से कोई लाभ नहीं है। यदि तुम्हारे अन्दर अनन्य निष्ठा है तो तुम्हारे कहे बिना ही वहाँ तक खबर पहुँच जायेगी और तुम्हारे इष्टदेव का मन स्वयं ही जान जायेगा, कि सचमुच इसका मेरे सिवा कोई नहीं है। ऐसी स्थिति में उनका मन तड़प उठेगा कि इसका अमुक कार्य हो ही जाना चाहिये और वह कार्य अवश्य हो जायेगा। गीता का वचन है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां
ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां
योग क्षेमं वहाम्यहम्॥

इस श्लोक के अन्दर जगदात्मा श्रीकृष्ण ने यह घोषणा की है कि जो लोग अनन्य निष्ठा से मुझ परमेश्वर की उपासना करते हैं उनके योग क्षेम का भार मैं स्वयं वहन करता हूँ। अर्थात् उन्हें जिस चीज की भी आवश्यकता होती है वह मैं उन्हें दे देता हूँ और जो कुछ उन्हें प्राप्त हो रहा है उसकी रक्षा भी मैं स्वयं करता हूँ।

भक्तिभाव वाले लोगों ने जहाँ ईश्वर को आत्म-समर्पण किया वहाँ वे इस अवस्था में पहुँच गये—

ना मैं देखूँ और को
और न देखन देहुँ।

यहाँ तो इस अवस्था में यह सिद्धान्त लागू हो जाता है—

यो मां पश्यति सर्वत्र
सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि
स च मे न प्रणश्यति।।
—गीता

अर्थात् जो व्यक्ति मुझ परमात्मा को सब जगह देखता है और सब कुछ मुझ परमेश्वर के अन्दर व्याप्त देखता है उसके लिये मैं कभी नष्ट नहीं होता हूँ और मेरे लिये वह नष्ट नहीं होता। ऐसी स्थिति जब साधक के अन्दर आ जाती है तब वह तुरीयावस्था में रहता है। इसी अवस्था को सम्प्रज्ञात योग की दूसरी श्रेणी अर्थात् विचारानुगत समाधि कहा जाता है। इस अवस्था में प्रेमी का हृदय प्रेमास्पद के प्रेम में इस कदर परिपूरित रहता है कि एक प्राण और दो शरीर वाली बात हो जाती है। ऐसी अवस्था में ही कृपायें और चमत्कार हुआ करते हैं।

मुझे इस बात से सम्बन्धित कई घटनायें याद आ रही हैं। आनन्दकन्द श्री प्रभुजी की कृपा से आदरणीय भाई मुलखराज जी महाराज आठ महीने तक लगातार तुरीयावस्था में रहे। उनकी आँखें हर समय बन्द रहा करती थी फिर भी वे अपने लौकिक व्यवहार में कोई त्रुटि नहीं आने देते थे। यहाँ तक कि भीड़ भरे बाजारों में आँखें मूँदे चला करते थे किन्तु क्या मजाल कि कभी किसी प्रकार की दुर्घटना हो जाय। एक बार किसी भाई ने श्री प्रभुचरणारविन्दों में निवेदन किया :—

'महाराज! यह बात समझ में नहीं आती कि भाई मुलखराज जी भीड़ भरे बाजार में आँखें बन्द किये हुए चलते हैं पर कभी कोई दुर्घटना नहीं होती, हम लोग बहुत सम्भल-सम्भल कर चारों ओर देखकर चलते हैं फिर भी कई बार चोट खा जाते हैं। इसका क्या कारण है?'

इस पर श्री प्रभुजी मुस्कराते हुए बोले—'उसे चलाने वाला ड्राइवर इतना होशियार है कि उसके मुकाबले का कोई और हो ही नहीं सकता। वही उसे भारी से भारी भीड़ में से सुरक्षित निकालकर ले जाता है।'

कुछ दिन पश्चात श्री प्रभुजी भाई मुलखराज जी और गोपालानन्द जी को उसी अवस्था में कांगड़ा की किसी पहाड़ी पर ले गये। उनके साथ काफी संख्या में गृहस्थी लोग भी थे। लौटते समय कुछ लोग अधीरतापूर्वक बोले—महाराजजी! शाम हो गई है। आपके अन्धे बच्चे कैसे चलेंगे? हम तो जैसे-तैसे चले जायेंगे, पर बुढ़ापे के कारण इनसे तो वैसे ही नहीं चला जाता, फिर बन्द आँखें और शाम का समय। बड़ी परेशानी वाली बात होगी!

श्री प्रभुजी बोले—क्या इन्हें पहाड़ से धकेल दूं; वे लोग चुप हो गये। श्री प्रभुजी बोले—अच्छा, तुम लोगों की यही इच्छा है तो इन्हें धकेल ही देता हूं। यह कहकर प्रभुजी ने उन दोनों को पहाड़ की चोटी पर खड़ा करके पहाड़ी से नीचे धकेल दिया। लोगों को यह आशङ्का हुई कि वे मर जायेंगे, पर यह देख कर उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि वे दोनों बड़ी तीव्र गति से आगे बढ़े जा रहे हैं। श्री हंसराजजी आकाश से नीचे उतरते हुए पक्षी की तरह उड़े जा रहे हैं और श्री गोपालानन्दजी मेंढक की गति से उछलते हुए आगे बढ़ते जा रहे हैं। वे दोनों बहुत जल्दी अपने गन्तव्य स्थल पर पहुंच गये, जबकि वे डींगें मारने वाले नौजवान गृहस्थी लोग दो घण्टे बाद वहां पहुंचे। श्री प्रभुजी भी उन्हीं के साथ थे। आते ही बोले—क्यों हमारे अंधे बच्चे ! तुम लोगों से पहले पहुंच गये न ?

वे लोग सकुचाते हुए बोले—हाँ महाराज आप ठीक कहते हैं।

प्रतिस्पर्द्धा वाली भावना प्राय: सभी में रहा करती है। स्पर्द्धा या ईर्ष्या वे लोग ही करते है जो गुरु को गुरु नही समझते। उन लोगोंके मनों में ही क्यों और कैसे वाले प्रश्न उठा करते हैं।

एक बार आनन्दकन्द प्रभुजी अपने कुछ शिष्यों के साथ नैपाल में विराजमान थे। वहाँ एक वृद्ध हर क्षण उनकी सेवा में तत्पर रहा करता था। कुछ लोग उससे चिढ़ते थे कि यह बूढा हर बात में आगे रहता है, हमें कुछ भी सेवा नहीं करने देता।

उन्होंने उसे प्रभुजी के चरणारविन्दों से दूर करने के कई प्रयास किये, किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। अन्त में एक बार कन्दमूल लाने का प्रश्न आया। उन्होंने सोचा कि अमुक पहाड़ पर कन्दमूल तो बहुत हैं किन्तु वहाँ एक अघोरी रहता है, वह किसी को कन्दमूल लेने नहीं देता। अतः इस बूढ़े को यह काम सौंपा जाय। ऐसा विचार कर उन्होंने प्रभुजी से निवेदन करके उस वृद्ध सेवक को जंगल में भिजवा दिया।

उस स्थान पर पहुंचकर ज्योंही उस वृद्ध ने कन्दमूल उखाड़ने की चेष्टा की, अघोरी ने दूर से ही उसे देख लिया। उसने उस पर शक्ति-परीक्षण किया, पर उसे कोई सफलता नहीं मिली। उसने मन में विचार किया कि "आज तक कोई मुझसे बचकर नहीं जा सका है, किन्तु इसके आगे मेरी शक्ति निष्क्रिय हो गई है, निश्चित ही यह कोई सिद्धपुरुष है।"

वह उसके पास आकर बोला—तुम पहले आदमी हो जो मुझसे बचकर जा रहे हो। मालूम पड़ता है कि तुम किसी बहुत बड़े योगिराज के शिष्य हो। मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूं और तुम्हें कुछ देना चाहता हूं। बोलो क्या मांगते हो ?

वृद्ध गम्भीर वाणी में बोला—"मुझे कुछ नहीं चाहिए। तुम्हें यदि कुछ आवश्यकता हो तो मुझसे मांगो।" अघोरी आश्चर्यचकित होकर उस वृद्ध के बारे में विचार करने लगा तो उसने देखा कि प्रभुजी का वरदहस्त उस वृद्ध के सिर पर है और वे मुस्कराते हुए कह रहे हैं—बेटा ! तुम इस अघोरी को जो कुछ देना चाहो दे सकते हो। तुम चाहो तो इसे अजर-अमर भी कर सकते हो। यह देख अघोरी हाथ जोड़कर उस वृद्ध से बोला—महाराज ! मेरे पास से आज तक कोई खाली नहीं गया। आपके न चाहते हुए भी मैं आप को वाक् सिद्धि का वरदान दे रहा हूं, कृपया इसे स्वीकार कीजिए।

उसने स्वयं खोदकर उस वृद्ध को कन्दमूल

दे दिये। उन्हें लेकर वह वृद्ध प्रभुजी के पास लौट आया। जब सत्संगियों को पता चला कि वह वृद्ध कन्दमूल सहित सुरक्षित ही नहीं लौटा, अपितु अघोरी से वरदान भी लेकर आया है तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। वे उसे चिढ़ाने के लिए कहने लगे—"तुम तो वरदान लेकर क्या आये हो अपने लिए चौरासी लाख का चक्कर खरीद लाये हो।" उन्होंने प्रभुजी से भी निवेदन किया कि प्रभुजी! यह तो अघोरी से वरदान लेकर अपने लिए मुसीबत खरीद लाया है। अब यह किसी को वरदान देगा और किसी को अभिशाप। बस, इसी चक्कर में उलझा रहेगा, निश्चित ही इससे इसका पतन हो जायेगा।

इस पर प्रभुजी मुस्कराये और बोले—अघोरी ने दिया और हमने ले लिया। उसने वरदान तो इसे दिया है, किन्तु होगा वह जो हम चाहेंगे। उस वृद्ध की निष्काम भक्ति को देखकर प्रभुजी का हृदय इतना आह्लादित हुआ कि उन्होंने उसे उसी समय समाधि दे दी और कहा कि बेटा! अब तुम समाधि में लीन रहा करो।

ये घटनायें वहीं घटित हुआ करती हैं, जहाँ ऐसे भक्त होते हैं, जो अपने इष्टदेव को आत्म-समर्पण करके उन्हींमें अपनेको खो देते हैं। ऐसी स्थिति में सर्व शक्तिमान इष्ट का मन सदा अपने भक्त के साथ रहा करता है और उनकी सारी शक्तियाँ भी उस भक्त के साथ रहा करती हैं।

पुण्य संग्रह और सिद्ध-कृपा

सिद्धों का कृपा-भाजन बनने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य पुण्योंका संग्रह करता रहे। योग-शिखोपनिषद में कहा गया है—

पश्चात्पुण्येन लभते,
सिद्धेन सह संगतिम्।
ततः सिद्धस्य कृपया,
योगी भवति नान्यथा ।।
ततो नश्यति संसारोऽयं,
नान्यथा शिव भाषितम् ।।

इसका अभिप्राय है कि यदि मनुष्य यज्ञ करता है, दान करता है, तप करता है, ध्यान धारणायें करता है या किसी प्रकार के भी पुण्य-कृत्य करता है तो उसका भी फल यह होता है कि कालान्तर में पुण्यों के बढ़ जाने पर उस पर सिद्ध-कृपा हो जाया करती है। जिससे वह स्वयं योगी बन जाता है और संसार-चक्र से छूट जाता है।

अतः मनुष्य को अपना पुण्यों का खजाना बढ़ाते रहना चाहिए। पुण्य इतने बढ़ जावें कि मनुष्य उनके प्रति निष्काम हो जाय। पुण्यों के प्रति निष्काम हो जाने का एक ही तरीका है जिसे ईशावास्योपनिषद् के इस मन्त्र में बतलाया गया है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि,
जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयिनान्यथेतोऽस्ति,
न कर्म लिप्यते नरे ।।

अर्थात् मनुष्य कर्म करता चला जाये, वह अपनी सौ वर्ष की जिन्दगी कर्म करते हुए व्यतीत करे। इस प्रकार कर्मरत रहता हुआ मनुष्य निष्काम बन जाता है और वह कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाता है।

जो मनुष्य कर्म नहीं करता, अल्हड़-आलसी बनकर पड़ा रहता है वह एक प्रकार से ईश्वर का अपराधी है, क्योंकि वह पड़ा-पड़ा तरह-तरह के दुश्चिन्तन करता रहता है, जिससे वायु-मण्डल भी दूषित बन जाता है। भगवान ने गीता के अन्दर अपने मुखार-विन्द से स्पष्ट कहा है—

आरुरुक्षो मुनेर्योगं,
कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव
शमः कारण उच्यते ।।

जो मनुष्य योगारूढ़ होना चाहता है वह प्राणायाम करता है, ध्यानाभ्यास करता है, तप करता है। इस प्रकार पुण्यमय कर्मों में रत होकर वह योगारूढ़ होता है और योगारूढ़ हो जाने पर शान्ति ही उसका कारण बन जाती है। अर्थात् वह शाश्वत शान्ति को प्राप्त हो जाता है।

अतः मनुष्य को तप करना चाहिए, स्वाध्याय करना चाहिए। जो मनुष्य तपस्वी है, स्वाध्यायशील है; उस पर सिद्ध-कृपा अवश्य हुआ करती है।

इस सम्बन्ध में मुझे एक घटना याद आ रही है। वह इस प्रकार है—

एक लड़का था। उसका नाम था ओमप्रकाश। पुण्य संस्कारवश उसके हृदय में भगवान कृष्ण के प्रति प्रेम पैदा हो गया। वह वृन्दावन चला गया और एक पेड़ के नीचे बैठकर अरसठ दिन तक उपवास करता रहा। उस पर किसी सिद्ध की कृपा हो गई जिससे उसे गोलोक धाम के दर्शन होने लग गये। दूर-दूर के व्यक्ति उसके पास आया-जाया करते थे। वह उन्हें यमुना जी का जल उठाकर दे देता था, जिससे उनके कष्टों का निवारण हो जाता था।

इसी प्रकार की एक अन्य घटना है—

एक बार मुझे श्री वृन्दावन में मोतोझील पर एक नवयुवक लड़का मिला। उसकी आँखें ऊपर की ओर चढ़ी हुई थीं। हमने उसे उठाया और पूछा—भाई तुम्हारी क्या स्थिति है?

वह बोला—महाराज जी! यदि आपने मुझे न जगाया होता तो अच्छा था। खैर! आप मेरी स्थिति जानना चाहते हैं तो सुनो—मुझे श्रीकृष्ण के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिखाई देता। जिस ओर दृष्टि डालूँ उधर श्री श्यामसुन्दर ही नजर आते हैं।

मैंने पूछा—क्या ये सामने के पेड़ तुम्हें नजर आ रहे हैं?

वह बोला—नहीं!

मैंने पुनः प्रश्न किया—क्या मैं दिखाई दे रहा हूँ। वह बोला—आप मुझसे बात कर रहे हैं इसलिए कुछ झलक सी दिखाई दे रही है, किन्तु आपके अन्दर भी मुझे श्रीकृष्ण ही नजर आ रहे हैं।

मैंने उससे पूछा—तुम्हें यह स्थिति कैसे प्राप्त हो गई? उसने उत्तर दिया—आज से कुछ समय पूर्व मैंने यहाँ एक रासलीला देखी उसमें श्रीकृष्ण की आकृति मुझे बहुत मोहक लगी। मैंने उनका चित्र लेना चाहा किन्तु रासधारियों ने मना कर दिया। मैं निराश होकर एक शिवालय में चला गया और वहाँ शिव मन्त्र का जाप करता रहा। तीसरे दिन प्रात काल मेरे साथ एक चमत्कार पूर्ण घटना हुई। मैं पूर्ण एकाग्रता के साथ जप कर रहा था कि—अचानक ही शिव लिङ्ग के ऊपर से एक माला उठी और मेरे गले में आ गिरी। इसके साथ ही मुझे यह आवाज सुनाई दी, 'मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। जाओ अब तुम्हें सर्वत्र ही श्रीकृष्ण के दर्शन होते रहेंगे। रासधारियों ने उस समय श्रीकृष्ण का चित्र लेने से मना कर दिया था किन्तु अब वे ही रासधारी तुम्हें चित्र भी दे देंगे।'

उसने आगे बताया कि—मैं भगवान शिव की आज्ञा पाकर उन्हें प्रणाम करके ज्योंही शिवालय से बाहर निकला तो दरवाजे के निकट ही मुझे वे रासधारी मिल गये और

बोले—'प्यारे भैया ! तुम कहाँ चले गये थे ? हमने तुम्हारी बड़ी खोज की। तुम श्रीकृष्ण का चित्र लेना चाहते थे। अब ले लो।' यह कहकर उन्होंने चित्र दे दिया। उसे लेकर मैं यहाँ चला आया। तब से नकर मुझे श्रीकृष्ण के अतिरिक्त कुछ भी दिखाई नहीं देता।

यह क्या था ? अनादि सिद्ध भगवान शिव की कृपा, उनका शक्तिपात, जिसके फलस्वरूप उसे दिव्यदृष्टि प्राप्त हो गई।

यह एक अटल सिद्धान्त है कि मनुष्य का उद्धार सिद्ध-कृपा से ही होता है और वह कृपा भी हर व्यक्ति पर नहीं हुआ करती, क्योंकि सबके इतने पुण्य नहीं होते। पुण्यों का खजाना जमा करना भी हर व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है। क्योंकि एक व्यक्ति जनहित के लिये कुआँ खुदवाता है, मन्दिर बनवाता है, अस्पताल खुलवाता है या इसी प्रकार के अन्य पुण्यकर्मों को करता है और कहता है कि—"भाई ! फल की तो मुझे इच्छा नहीं है, मुझे करना था कर दिया।" उसका इतना कहना भी पुण्य के फल को समाप्त करने के लिए काफी है। क्योंकि—"मैंने करना था कर दिया" इस बात में भी फलासक्ति छिपी हुई है और अहंकार प्रकट होता है।

इसलिए मनुष्य को तप करना चाहिये, मन्त्र जाप करना चाहिये, शास्त्रों का मनन करना चाहिये और ये सभी काम नियमानुवर्तिता से करना चाहिये। जो मनुष्य नियम का पक्का है, वह कालान्तर में निष्काम बन जाता है। उसके अन्दर सतोगु का पूर्ण विकास हो जाता है। सतोगुण बढ़ जाने पर साधक का हृदय प्रेम का पुतला बन जाता है किसी प्रकार की लौकिक कामना उसके अन्दर नहीं रहती, उसकी यह स्थिति बन जाती है कि—जिसके लिये नानकदेवजी ने लिखा है—

नाम खुमारी नानका
चढ़ी रहत दिन रात।

ऐसी स्थिति में प्रणिधान (आत्म-समर्पण) स्वयं ही हो जाता है। प्रणिधान का लक्षण है—

सर्वकर्मणां परमगुरावीश्वरे
अर्पणं तत्फलसंन्यासो वा।

अपने समस्त कर्मों को परम गुरु ईश्वर के अर्पण कर देना अथवा उनके फल का त्याग करना प्रणिधान कहलाता है।

प्रणिधान (आत्म-समर्पण) हो जाने पर इष्टदेव के हृदय में अपने उपासक के कल्याण के लिये जो भी संकल्प उठता है वही उसके उद्धार का कारण बन जाता है। अतः सिद्ध कृपा भाजन बनने के लिये मनुष्यों को पुण्य-संग्रह करते रहना चाहिये तथा जप, तप एवं ध्यानाभ्यास के द्वारा वह स्थिति प्राप्त कर लेनी चाहिये जिसमें कि—

सुनत न काहू की कही,
कहत न अपनी बात।
नारायण वा रूप में,
मगन रहत दिन रात॥

कबिरा नौबति आपनी, दिन दस लेउ बजाय।
यह पुर पट्टन यह गली, बहुरि न देखहु आय॥
—सन्त कबीर

सम्पादकीय :—

यम-नियम का आराधन !

योग-पथ का अनुसरण करने वाले साधकों को योग के जिन अष्टाङ्गों की साधना करनी पड़ती है उनमें सर्व-प्रथम आचरणीय होते हैं यम और नियम। योग दर्शन में इन्हें सार्वभौम महाव्रतों की संज्ञा दी गई है यानी इनके परिपालन करने या व्यवहार में लाने पर देश काल जाति वर्ण भेद आदि कुछ भी रुकावट नहीं डाल पाते। सर्वत्र सब काल में सभी इन्हें अपना सकते हैं। अपनी इसी विशेषता के कारण इन्हें सार्वभौम महाव्रतों के रूप में व्याख्यात किया गया है।

योग-दर्शन में महर्षि पतंजलि ने साधन-पाद के सूत्र संख्या ३० में यमों का परिचय इस रूप में दिया है :—

अहिन्सासत्यास्तेय ब्रह्मचर्या परिग्रहायमाः।

अर्थात्—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम हैं। आगे इसी साधन पाद के ३२ वें सूत्र में महर्षि ने नियमों का परिचय भी इस रूप में कराया है।

शौच सन्तोष तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः।

यानी शौच (आभ्यान्तरीय और बाह्य) सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये पाँच नियम हैं।

अष्टाङ्ग योग के यह प्रथम दो अङ्ग यम-नियम ही, सारी योग-साधना के अधिष्ठान कहे जाते हैं। बिना इस अधिष्ठान अथवा आधार-भूमि के योग-साधना भवन के सफल निर्माण की कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती। साधना भवन का आह्लादकारी प्रासाद, जहाँ पहुँचकर साधक को समाधि रूपी ध्येय की उपलब्धि होती है, इस आधार के बिना बनाने का प्रयास करना बालू के ढेर पर मकान बना लेने के निष्फल प्रयास जैसा ही रहता है।

इस वास्तविकता को योग-योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन को समझाते हुए कहा है :—

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्व कर्मणाम्॥
अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवाश्च च पञ्चमम्॥

अर्थात्—हे अर्जुन ! सब कर्मों की पूर्ति में पाँच कारण रहते हैं इन्हें तू मुझसे सुन। सांख्य दर्शन के अनुसार इन्हें कर्म का अधिष्ठान, कर्त्ता, करण, चेष्टा और दैव कहा गया है।

भगवान के इस कथन में भी किसी कार्य की सम्पन्नता में अधिष्ठान का होना सबसे पहली आवश्यकता बताई गई है। योग पथारुढ़ होकर जो साधक समाधि के अनिर्वचनीय आनन्द की उपलब्धि करना चाहते हैं उन्हें यम-नियम रूपी महाव्रतों का पूर्णतया परिपालन अवश्य करना चाहिए। क्योंकि ये दोनों योग के आरम्भिक आधार होते हैं। बिना इस आधार के योग के शेष छः अंगों में प्रवेश पाने का कोई अधिकारी नहीं बन सकता।

जिन साधकों की तीव्र लालसा योगी-जीवन व्यतीत करने की रहती है वे बिना किसी क्लेश और कठिनाई के सहजता से इन सभी व्रतों को अपनी दैनिक चर्या में सम्मिलित करके तदनुसार चलने का संकल्प ले लेते हैं। मानव जीवन रूपी सरिता जब यम और नियम रूपी दो किनारों के बीच में होकर बहने लगती है तब वह स्वच्छ निर्मल और लोक-कल्याण-कारिणी बन जाती है लेकिन यही सरित-प्रवाह जब अपने तटों का उल्लंघन करके बाहर उमड़कर बहने लगता है तब वह न केवल अपनी स्वच्छता और निर्मलता को खो बैठता है अपितु किनारों पर इधर-उधर बसे जन-समूहों के हितों का विनाशक भी बन जाता है। ठीक यही दशा हमारे जीवन रूपी सरित-प्रवाह की समझनी चाहिए। जब तक हमारा जीवन प्रवाह यम-नियम रूपी तटों के भीतर रहकर प्रवाहित होता रहेगा वह निश्चित रूप से स्वच्छ निर्मल और स्वयं अपने तथा दूसरों के लिए कल्याणकारी बना रहेगा, प्रतिकूल इसके जब वह मर्यादा तोड़कर किनारों से बाहर बहने लगेगा तो सारी स्वच्छता और निर्मलता नष्ट करके अपना स्वरूप खो बैठेगा। यमों और नियमों में जिन दस गुणों को महाव्रतों के रूप में वरणीय बताया गया है वे साधारणतया मानव के सम्पूर्ण विकास के आवश्यक आधार हैं। लौकिक जीवन को सुख शान्ति और दुःख रहित बनाने में भी ये सब गुण ही सहायक बना करते हैं। यदि परम पुरुषार्थ मोक्ष के धरातल को छू पाने की ताकत साधक नहीं जुटा पाते तो सुख शान्ति और सम्वृद्धि के आंगन में तो निश्चित रूपेण यह यम-नियम रूपी व्रत उसे पहुँचा ही देते हैं। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, ईश्वर प्रणिधान तप आदि सभी ऐसे गुण या व्रत हैं जिनमें से एक की भी आराधना हम कर लें तो शेष सभी गुण उस एक के अनुगामी बन जायेंगे।

'आराधना' का अर्थ इनकी स्तुति या पूजा मात्र करना नहीं है अपितु आराधना से हमारा अर्थ है इन्हें जीवन के प्रत्येक व्यवहार में अनुष्ठित करना। आराधना हम उसी पदार्थ या व्यक्ति की करते हैं जो हमारे लिए

आराध्य, पूज्य और इष्टापूर्ति करने वाला होता है। केवल ध्यान रखने की बात यह है कि किसी भी व्रत या गुण का नामोच्चारण मात्र अथवा उसके बार-बार पाठ कर कण्ठाग्र कर लेने मात्र से कभी किसी का कल्याण नहीं हुआ करता। कल्याण केवल किसी गुण या व्रत को अपने आचरण में ले आने से ही हो पाता है। सभी को विदित है कि सत्य और अहिंसा मात्र दो व्रतों का आश्रय लेकर ही महात्मा गाँधी जैसे युगपुरुष ने देश की राजनीति में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया था। सत्य और अहिंसा दोनों को वे दो अलग-अलग व्रत नहीं समझते थे। उनका मानना था कि सत्य को अपना-लेने पर अहिन्सा का भाव स्वतः उदय होकर उसका सहचारी बन जाता है। हमारे शास्त्रों की भी मान्यता है कि एक सद्गुण अन्य सद्गुणों को स्वयं खींचकर अपना अनुगामी बना लेता है। यम-नियमों में जिन दस सद्गुण अथवा व्रतों का उल्लेख है वे सभी विलक्षण आकर्षण शक्ति वाले हैं, सभी अनुष्ठेय हैं। इसीलिए इनका परिपालन करना, इनके अनुसार जीवन व्यतीत करना, दैनिक व्यवहार में इन्हें ओत-प्रोत कर लेना योगी के लिए आवश्यक और अनिवार्य बताया गया है।

उपाय प्रत्यय वाले योगियों का उपाय क्रम तो यम-नियम की आराधना अथवा अनुष्ठान से ही आरम्भ होता है। श्रद्धा का संबल लेकर जो इन व्रतों के अनुष्ठान में लग जाता है, निस्सन्देह वह समाधि सिद्धि की आगामी भूमिकाओं में तत्परता से आगे बढ़ते जाने में शीघ्र सफलता प्राप्त कर लेता है। जैसाकि हमने ऊपर उल्लेख किया है ये सब ऐसे व्रत हैं, जिनमें देश, काल, वर्ण-व्रत आदि का कोई भेद बाधक नहीं बनता। यदि मानव समाज को समग्र रूप से उन्नत और विकसित करना है तो यम-नियम सम्बन्धी सूत्र में पिरोये गये यही वे अनमोल मोती हैं, जिन्हें धारण करके प्रत्येक राष्ट्र का प्रत्येक मानव अपने को सही अर्थ में—मानव कहलाने के अधिकार का वरण कर सकेगा। कौन नहीं जानता है कि आज सर्वत्र मानव समाज में जो भी अशान्ति, बेचैनी, व्यग्रता, पद और पद-प्रतिष्ठा की जो निन्दनीय आपाधापी और विनाशक, हिंसकवृत्ति पनप रही है उसका मात्र कारण यही है कि यम-नियम जैसे महाव्रतोंको जीवन-क्षेत्र में प्रतिष्ठित करने में हम सब उपेक्षा वृत्ति का ही आश्रय लेते रहे हैं। यह उपेक्षा वृत्ति ही हमारे राष्ट्र के पतन का कारण बनी हुई है। काश, हम इसका उन्मूलन कर सकें।

इस लेख में केवल महाव्रतों की कुछ चर्चा मात्र की गई है। आगामी अङ्कों में क्रमशः एक-एक व्रत की महत्ता और उसकी उपयोगिता का विवेचन किया जायगा। —सम्पादक

रमता जोगी बहता पानी

भगवान भुवन-भास्कर जब दिन का सारा भाग लोक-कल्याण के लिए प्रकाश, आभा और ऊर्जा देने में व्यतीत करके अस्ताचल को जाने लगे, तब उषाकाल जैसी जीवनदायिनी उनकी मुख-मुद्रा पर श्यामता मिश्रित उदासीनता और खिन्नता के भाव स्पष्ट दिखाई देने लगे थे।

किसी ने उनसे पूछा—मार्तण्ड भगवान् ! बताओ न, सारे ब्रह्माण्ड को प्राणवन्त बनाने जैसा परम पुरुषार्थ और पुण्यमय कार्य करने के बाद भी आपके मुख-मण्डल पर खिन्नता क्यों नजर आ रही है ? किस अन्तर-व्यापी चिन्ताने आपको व्यथित कर रखा है ?

भगवान भुवन-भास्कर बोले—ठीक है वत्स ! तुम्हारी जिज्ञासा। मैं अवश्य ही उदासीन और चिन्ताग्रस्त हूं। यह भी ठीक है कि दिनभर मैंने अविरल श्रम करके इस सम्पूर्ण लोक को उज्ज्वल और प्रकाशवान् बनाया है। अगर मैं यह नहीं करता तो यहाँ निष्क्रियता और अन्धकार का ही साम्राज्य छाया रहता। लेकिन मेरे चले जानेके उपरांत इस मेरे उत्तरदायित्व का भार कौन वहन करेगा, कौन अब इस लोक में प्रकाश और ऊर्जा देकर उसे सक्रिय बनाये रखेगा—यही चिन्ता मुझे परेशान कर रही है। मेरी उदासी और म्लान-मुखता का यही कारण है। बहुत विचारने पर भी मुझे अपना दायित्व वहन करने वाला कोई व्यक्ति नजर नहीं आ रहा है।

सूर्य भगवान और साधक की इस रहस्यमय वार्ता को चुपचाप सुन रहा था, वहीं पास में पड़ा मिट्टी का एक लघु दीपक। धीरे-धीरे अन्धकार ने अपनी काली चादर धरती के आंचल पर फैलाकर और अधिक गहनता बिखरा दी। इसी बीच किसी ने उस दीपक को प्रज्ज्वलित कर दिया। जगमग करते उस दीपक को मां सरस्वतीने वाणी प्रदान की। साहस के साथ मुस्कराते हुए वह आगे आया और भगवान सूर्यदेव को सम्बोधित करते हुए बोला—क्यों चिन्ता करते हो मेरे देव ! मैं भी तो तुम्हारा ही वंशज हूं। छोड़ दो अपनी सारी चिन्ताओं को। आपके अस्ताचल की ओर चले जाने के बाद मैं और मेरे भाई-बन्धु सम्हालेंगे आपके पूरे कार्यभार को। आपके अभाव में हम सब जगत को जाग्रत और जगमग करने के अपने कर्त्तव्य के पालन में रत रहेंगे। भले ही अपने कर्त्तव्य पालन में अपने को जला-जलाकर हमें भस्मीभूत क्यों न हो जाना पड़े ?

छोटे से मिट्टी के दीपक की यह साहस भरी वाणी सुनकर भगवान भास्कर मुस्कराये और बोले—धन्य है मेरे वंशज और अंशज पुत्र। तुम्हारे जैसे साहसी सपूत ही इस वसुधा के गौरव बना करते हैं। संकल्प शक्ति सम्पन्न तुम्हारे जैसे बच्चे कुल-दीपक बनकर अपनी स्मृति को अजर-अमर बनाते रहें, यही मेरा आशीर्वाद है।

इतना कहकर भगवान मरीचमाली अस्ताचल को चले गये और अम्बर की पट्टिका पर लिख गये यह उक्ति :—

जो पराये काम आता—धन्य है जग में वही

—दिव्य

● श्री विष्णुप्रसाद व्यास

पिंगला के भवन में कंदर्पहर

(गताङ्क से आगे)

चौथा शिष्य कंदर्पहर गुरु आज्ञानुसार राजगणिका पिंगला के घर की ओर गया। राजगणिका सर्व ऐश्वर्य सम्पन्न थी। राज-पुरुषों में उसका सम्मान था, उसके ऐश्वर्य में कुछ भी न्यूनता नहीं थी, उसके द्वार पर हाथी झूम रहे थे। हजारों दास-दासी उसके आसपास फिरते रहते थे। उसके धन का भण्डार तो ऐसा भरपूर रहता था कि मुट्ठी भर-भरकर दिन भर दान किया जाय तो भी कभी खाली नहीं होता था।

उसकी सखी-सहेलियाँ अतीव रूपवती थीं, साधारण पुरुषों का तो कहना ही क्या, बड़े-बड़े श्रीमान पुरुषों का भी उसके घर में प्रवेश होना कठिन था। ऐसे स्थलमें कंदर्पहर का प्रवेश होना महा कठिन काम था। वह स्वयं साधु था, पर गुरु-चरणों का ध्यान धर नीची दृष्टि किये हुए कंदर्पहर गणिका के घर की ओर चला। उसके द्वार पर जाकर "नारायण हरे" कहकर खड़ा रहा। साधु का स्वरूप अद्भुत तेजस्वी था, शरीर हृष्ट-पुष्ट था, चेहरा दमकता था कि जिसको देखने वाले मनुष्य पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता था। वय-तरुण थी, होठ पर मूछों का डोरा खिल रहा था, वास्तव में उसका सर्वांग दिव्य था।

इस पुरुषको देखते ही गणिका का ड्योढ़ी पर बैठे हुए चोबदार आश्चर्य-चकित होकर प्रणाम करने को खड़े हो गये। प्रत्येक मनुष्य दोनों हाथ जोड़कर कंदर्पहर को दण्डवत-प्रणाम करने लगा। गणिका के घर के सेवक-सेविकायें भी उस दिव्य पुरुष के दर्शनार्थ दौड़ी आयीं। प्रत्येक जन परस्पर बातें करने लगे कि ऐसी अद्भुत कान्तिमान मूर्ति हमने इस जन्म में तो कभी देखी नहीं। द्वार की ड्योढ़ी के पास चौकी पर पद्मासन लगाकर कंदर्पहर बैठगया और अपने मधुर और मंजुल कण्ठ से परब्रह्म का गुणगान करने लगा।

आज आषाढ़ मास की द्वादशी थी। गणिका पिंगला यद्यपि कर्म से धर्मशील नहीं थी, उसने गुणवान, बुद्धिमान श्रीमानों को अपना अंग अर्पण कर दिया था तथापि किसी जन्म-जन्मान्तर के सुकर्मयोग से उसके हृदय के किसी गुप्त स्थान पर आत्म-ज्ञान का बीज ढक रहा था। वह प्रत्येक पर्व पर अनेक साधु सन्तों का, अनाथ रंक-रोगियों का, पण्डित और ब्राह्मणों का सत्कार किया करती थी। किसी को विद्याभ्यास करने के लिए धन की सहायता देती, सन्तो को बुलाकर कथा-श्रवण करती तथा तीर्थ-यात्रा भी करती थी।

इतना होने पर भी उसमें यही पाप-वृत्ति थी कि वह अनेक लोगों को भ्रष्ट करती थी। आज उसके पूर्व जन्म का पुण्य सफल हुआ कंदर्पहर उसके द्वार आया है। वह गणिका थी इस कारण गुण को पहचानने वाली थी।

कंदर्पहर ने धीरे-धीरे परब्रह्म प्रेम का गान आरम्भ किया। उसका सुस्वर पिंगला

की खास बरदारी के कान पर जा टकराया। उसने धीरे-धीरे प्रेमपूर्वक खिड़की पर आकर यह गाने वाला कौन है, उस पर दृष्टि डाली। कंदर्पहर की कान्ति देखकर वह खास बरदारी-सहेली छक्क रह गई कि यह एक सतपुरुष कान्तिमान उत्तम गायक और परम धर्मशील नैष्ठिक ब्रह्मचारी है। इसे देखकर उस सहचरी के हृदय में कुछ और ही भाव का संचार होने लगा। उसने अपनी स्वामिनी के पास जाकर कहा—"बाईजी ! आज चातुर्मास की प्रथम द्वादशी है, किसी संतपुरुष को भोजन कराने का कल आपने विचार प्रकट किया था, आज ऐसा सन्त-पुरुष आपके द्वार पर आया हुआ है उसकी ओर दृष्टि तो कीजिए। जो वह योग्य जान पड़े तो उसे तृप्त कर अपना जन्म सफल कीजिये।"

दासी के यह द्वि अर्थी वचन सुनकर पिंगला एकदम खिड़की पर आई और उसने कंदर्पहर के दर्शन किये। उसके लावण्ययुक्त अलौकिक स्वरूप को देखकर उसका हृदय विंध गया और तत्क्षण उसने सहचरी से कहा—"आली निपुणिके ! इस साधुपुरुष को भोजन करने के लिए मन्दिर में पधारने की प्रार्थना कर। इसको मैं तृप्त करूँगी और मैं भी तृप्त होऊँगी।" दासी तुरन्त ही आज्ञानुसार नीचे उतरी और द्वार पर आकर बोली—"हे साधु ! आप हमारी स्वामिनी की मनः कामना तृप्त करो और भिक्षा के लिए भवन में पधारो।"

कंदर्पहर ने कहा—"तेरी बाईजी की मनः कामना पूर्ण किये बिना मैं यहाँ से विदा न होऊँगा।" तब दासी हँसती हुई कंदर्पहर को मन्दिर में बुला ले गई।

पिंगला ने भाँति-भाँति के भोजन तैयार करने की आज्ञा दी, भोजन का समय होते ही कंदर्पहर से भोजन करने की प्रार्थना की। कंदर्पहर ने उत्तर दिया—"हे मैया ! मैं एक संन्यासी हूँ, एक ही बार भोजन करता हूँ। दूसरी बार भोजन नहीं करता, इस कारण आज मैं भोजन नहीं लूँगा।" साधु-पुरुष के यह वचन सुनकर पिंगला को खेद हुआ, परंतु अपनी मनोकामना को साधुसे यहाँ कहे बिना संतोष न होगा। यह विचार कर वह बोली—"आप इस दासी के भोजन को अंगीकार नहीं करते हैं, यह मैं अपना दुर्भाग्य समझती हूँ।" कंदर्पहर ने कहा—"हे मैया ! इसमें दुर्भाग्य कुछ भी नहीं, मैंने तुम्हारी दासीसे कह दिया है कि तुम्हारी स्वामिनी की जो-जो कामना होगी उसे मैं पूर्ण करूँगा और जब तक उसे पूर्ण न करूँगा तब तक यहाँ से नहीं जाऊँगा, आज नहीं तो कल से तुम्हारा भोजन लूँगा।

साधु-पुरुष के ये वचन सुनकर गणिका ने मन में विचार किया कि मैं इस समय इससे आग्रह करूँगी तो मेरा देह-गेह पवित्र किये बिना यह महात्मा चला जायगा और मेरी मनः कामना व्यर्थ जायगी। पर इस महल में से वह कहाँ जाने वाला था। यह जोगड़ा है बड़ा पक्का उस्ताद भाव दिखाना खूब जानता है, पर मैं भी क्या कुछ कच्ची हूँ, ऐसे जोगड़े अनेक देख लिये हैं। इस पिंगला के सपाटे से कौन बचा है और क्या यही बचा जाता है ? यह विचार करती हुई गणिका ने कंदर्पहर से उस दिन विशेष आग्रह नहीं किया।

फिर उसने अपनी दासीको भेजकर दूसरे कमरे में साधु महाराज के निवास का प्रबन्ध करा दिया। यह कमरा विलास-वैभव की विभूति के समान था, रति के रहने का स्थान रूप था, मदन के मौज मारने का मन्दिर था। चाहे जैसे ब्रह्मविद् को चलायमान करने का यह चरित्र-स्थल था।

गणिका ने यह कमरा खास-खास राजकुमारों के द्रव्य से सजाया था। इसी में कंदर्पहर को ठहराया गया।

कंदर्पहर ने कमरे में प्रवेश करते ही सूक्ष्म दृष्टि से आसपास की लीला का अवलोकन कर लिया। सुन्दर छत्र, पलंग, चौरंग, सुखासन, सुवर्ण के मंच, रेशमी हिंडोले और मन को विषयलीन कराने योग्य चित्रों से भरपूर था। इसमें बिछे हुए किसी भी आसन पर न बैठकर उसने एक कोने में बाघम्बर बिछाकर आसन जमा लिया। दासी ने सुखासन पर बैठनेके लिए बहुत आग्रह किया, पर कंदर्पहर ने कहा—"अये अम्बे! मुझ जैसे साधु-पुरुषों को ऐसे सुखासन योग्य नहीं हैं, इन्हें तो इश्कबाजों के लिए रहने दो।" यह सुनकर दासी वहाँ से विदा हो गई।

यद्यपि पिंगला को विवेक तो अवश्य प्राप्त हुआ था तथापि उसकी वासना का क्षय नहीं हुआ था। उसने पासमें बैठी हुई दासी से कहा —"अरी निपुणिके! मैं जैसे पुरुष की बहुत समय से कामना करती थी, वैसा ही पुरुष आज मुझे प्राप्त हुआ है। तू बड़ी चतुर है, इस कारण मेरा मनोभाव जानकर तू इस संत-पुरुष के पास से वचन ले आई है कि वह जब तक मेरी मनः कामना तृप्त न करेगा, तब तक यहाँ से विदा न होगा।

देखने में तो यह साधु ठीक है, परन्तु चालाक और बातचीत में बड़ा वाचाल है। तू देखती है ना, मुझसे मैया-मैया कहता है! पर अपनी इच्छा से यह इस पाप भवन में आया है। दासी अपनी स्वामिनी का मनोबल जानकर उसी के अनुसार कहने लगी— "बाईजी! तुम इसकी कुछ चिन्ता न करो, अनेक साधु बाबा ऐसे ही हैं! दाम और काम से कौन नहीं डिगा है? महात्मा कबीर दास ने एक दोहे में कहा है—

चलन चलन सब कोऊ कहे,
पहुँचे विरला कोय।
एक कनक और कामिनी,
दुर्लभ घाटी दोय॥

इन्द्र डिगे, ब्रह्मा डिगे, विश्वामित्र जैसे मुनि डिगे, कृष्ण परमात्मा डिगे, तब इस छोकरे की बिसात ही क्या है? मैं मानती हूँ कि ये तुम्हारा रूप देखकर चकित हो गया है। इसी से इसकी भूख जाती रही है, परन्तु बाईजी! है तो कामदेव का अवतार!"

इस प्रकार बातचीत करते-करते सायंकाल हो गया। मुख्य दासी ने कंदर्पहर का निवास-स्थान प्रकाशित करने को दूसरी दासियों को आज्ञा दी।

सारे महल में चारों ओर सौगन्धिक दीपक जला दिए गये। इत्र आदिक सुगन्धित पदार्थों का सौरभ चारों ओर फैल गया। उत्तम-उत्तम सुगन्धित पुष्पों की और मालाओं की जालियां खिड़कियों पर बांध दी गई और साथ ही काम को बढ़ाने वाला मंगल नाद होने लगा। थोड़ी देर में दासी और पिंगला रूप के भाव में केशर-कस्तूरी पड़ा हुआ दूध का प्याला और काम की वृत्ति करें ऐसे सुन्दर पकवान लेकर कंदर्पहर के समीप आई और साधु से भोजन करने की प्रार्थना की। कंदर्पहर ने कहा—"मैया! यह शब्द सुनते ही पिंगला के रोम-रोम में आग लग गई। उसके मन में तो पिंगला ही नहीं, बल्कि जगत की स्त्री मात्र मैया थी। हे मैया! ज्ञानी पुरुषों का देह भोग के लिए नहीं है,

(● शेष पृष्ठ ४८ पर)

● श्री गिरीशदेव वर्मा,

योग के विघ्न एवं उनके उपाय

(२)

स्वामी आत्मानन्द सरस्वती ने अपने संस्मरण में लिखा है कि एक बार उनके आश्रम में एक नवयुवक आया और योग का अभ्यास करने लगा। कुछ दिन तक उसके साधन अच्छी तरह चलते रहे, मगर जब उसे पद्मासन का अभ्यास कराया जाने लगा तो अनेक विघ्न आने लगे। आध घण्टे तक तो वह पद्मासन पर बैठा रहता, किन्तु उसके बाद उसके पैरों में दर्द होने लगता। उसने दर्द को सहन करके अभ्यास को बढ़ाना चाहा तो उसके अंगों में कंपकंपी होने लगी। स्वामीजी ने जब उसकी यह दशा देखी तो उसका अभ्यास बन्द करा दिया और उसे एक तत्व के अभ्यास का तरीका बताया, और तदनुसार उसके आहार-विहार में परिवर्तन कर दिया। वह तत्व दर्शन का अभ्यास करने लगा और साथ-साथ प्रणव का जप भी बढ़ा दिया। एक वर्ष के बाद उसे तत्वों के दर्शन में सफलता मिली और प्रणव के जप के फलस्वरूप उसके अन्दर ज्ञान का प्रकाश आने लगा। इसके पश्चात् उसे पुनः पद्मासन का अभ्यास कराया गया और उसका अभ्यास काल बढ़ने लगा और थोड़े ही दिनों में वह तीन घण्टे छत्तीस मिनट तक एक आसन पर बिना हिले-डुले बैठने में समर्थ हो गया।

योग की साधना आरम्भ करने पर किसी किसी को अनेक विघ्नों का सामना करना पड़ता है। यह विघ्न साधक को विचलित कर देते हैं। "समाधौ क्रियमाणे तु विघ्नायायान्ति वै बलात"।

अर्थात् समाधि के अभ्यास काल में विघ्न बलपूर्वक आने लगते हैं। ये विघ्न स्वयं योग में विघ्न नहीं हैं परन्तु चित्त के विक्षेपकर्त्ता हैं। इन विघ्नों को योग की भाषा में अन्तराय कहते हैं। प्रणव के जप से अन्तरायों में कमी तो हो जाती है किन्तु वे जाते नहीं हैं। उनको दूर करने के लिये कुछ विशेष उपाय करने पड़ते हैं। साधक की शारीरिक व मानसिक दशा तथा उसके साधन के स्वरूप को जांच करके योग्य गुरु कोई प्रतिषेधात्मक उपाय बताता है। उसका अभ्यास कर लेने पर योगी की साधना निर्विघ्न बढ़ती जाती है।

महर्षि पतंजलि ने अपने दर्शन में नौ प्रकार के विघ्नों का वर्णन किया है और यह भी बताया है कि इनके अतिरिक्त चार प्रकार के और उपविघ्न हैं।

प्रस्तुत लेख में मैं पहिले इन विघ्नों का वर्णन करूंगा और उसके बाद महर्षि के सूत्रों के आधार पर इन विघ्नों को दूर करने के

उपायों पर प्रकाश डालूंगा। भगवान पतंजलि देव कहते हैं कि—

व्याधि स्त्यान संशय प्रमादालस्याविरति भ्रान्ति दर्शनालब्ध भूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्त विक्षेपास्तेऽन्तरायाः। ३०

अर्थ—व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति दर्शन, अलब्ध भूमिकत्व, और अनवस्थितत्व ये नौ चित्त को विक्षेप करने वाले विघ्न हैं।

तथा

दुःख दौर्मनस्याङ्गमेजयत्व श्वासप्रश्वासा विक्षेप सहभुवः। १-३१

अर्थ—दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व तथा श्वास-प्रश्वास की गड़बड़ी यह चार चित्त के विक्षेप करने वाले विघ्नों के साथी हैं।

अब हम इन विघ्नों को विस्तार से समझाने का प्रयास करेंगे।

(१) व्याधि—वात, पित्त, कफ की न्यूनाधिकता से शारीरिक रोग हो जाते हैं। काम क्रोधादिक के कारण मानसिक रोग हो जाते हैं। मनुष्य का मन पहिले रोगी होता है और उसके बाद उसका शरीर रोगी होता है। गोसाईं तुलसीदासजी ने श्री रामचरित मानस में मानसिक रोगों का बड़ा अच्छा वर्णन किया है जो ध्यान देने योग्य है।

सुनहु तात अब मानस रोगा।
जिन्ह ते दुःख पावहिं सब लोगा॥
मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला।
तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥
काम, वात, कफ, लोभ अपारा।
क्रोध पित्त नित छाती जारा॥
प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई।
उपजै सन्निपात दुःखदाई॥

अर्थ—हे तात! अब मानस रोग सुनो, जिनसे सभी लोग दुःख पाते हैं। मोह सब रोगों की जड़ है, फिर उससे बहुत से शूल उत्पन्न होते हैं। काम वात है, अपार लोभ कफ है और क्रोध पित्त है जो नित्य छाती जलाये रखता है। यदि ये तीनों भाई प्रीति करते हैं तो दुःख देने वाला सन्निपात उत्पन्न होता है।

सम्पूर्ण मानसिक रोगों का मूल मोह (अज्ञान) है और समस्त शारीरिक रोगों का मूल प्रज्ञपराध है। यह स्थूल शरीर वात, पित्त व कफ से ही धृत है, परन्तु ये ही जब साम्यावस्था छोड़कर कुपित हो जाते हैं तो शरीर में रोग उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार यह मानसिक शरीर भी काम (राग), क्रोध (द्वेष) और लोभ (तृष्णा) से धृत है। जब ये उचित बर्ताव को छोड़कर दुष्ट बन जाते हैं तो अनेक मानसिक रोगोंको उत्पन्न करते हैं। वात, पित्त व कफ तीनों इसी शरीर में रहते हैं पर आपस में प्रीति नहीं करते। वे अकेले ही रोग उत्पन्न करने में समर्थ हैं। कभी-कभी दो-दो मिलकर रोग उत्पन्न करते हैं। किन्तु यदि तीनों बढ़ जावें तो अभिन्यास सन्निपात पैदा हो जाता है जो प्राण लेकर ही छोड़ता है।

विषय मनोरथ दुर्गम नाना।
ते सब सूल नाम को जाना॥
ममता दादु कंडु इरषाई।
हरष विषाद गरह बहुताई॥

अर्थ—विषयों के जो मनोरथ हैं वे ही सब प्रकार के शूल हैं, जिनके नाम कौन जानता है। ममता दाद है, ईर्ष्या खाज है। हर्ष व विषाद गहरा गले का रोग है।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध इन्द्रियों के विषय हैं। एक-एक के सहस्त्रों भेद हैं। विषयों की प्राप्ति से संतोष नहीं होता, चाह बढ़ती

जाती है। ममता को दाद कहा, क्योंकि दाद खुजलाने में बहुत प्रिय लगता है पर पीछे बड़ा कष्ट होता है। वैसे ही किसी पर ममत्व करने से पहिले सुख मालूम देता है पर अन्त में बड़ा कष्ट होता है। ईर्ष्या को खाज कहा है, यह छूत की बीमारी है। ईर्ष्या भी कुसंग द्वारा कुटिल स्वभाव होने पर मन में पैदा हो जाती है, इष्ट प्राप्तिसे हर्ष और इष्टके वियोग से विषाद होता है, इनको गले का कंठमाला रोग कहा है। इस रोग से गलेमें छोटी-छोटी बहुत-सी फुन्सियाँ लगातार माला की तरह निकला करती हैं। यह रोग बड़ी कठिनाई से अच्छा होता है। हर्ष व विषाद की तरंगें भी मनुष्य में बराबर उठा करती हैं। बिरले ही इन अवस्थाओं में सम चित्त हो पाते हैं।

पर दुःख देखि जरनि सोइ छई।
कुष्ट दुष्टता मन कुटिलाई॥
अहंकार अति दुखद डमरुआ।
दंभ कपट मद मान नेहरुआ॥

अर्थ—पराया सुख देख जो जलन होती है वही क्षय रोग है। दुष्टता और मन की कुटिलता कुष्ट रोग है। अहंकार अत्यन्त दुखद डमरुआ रोग है। दंभ, कपट, मद, मान नेहरुआ रोग है।

क्षय राज रोग है, जिसमें रोगीका फेफड़ा सड़ जाता है। सदा ज्वर बना रहता है और खांसी आया करती है। रोगी धीरे-धीरे दुर्बल होता हुआ मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। जो लोग पराया सुख देखकर जलते हैं उनका हृदय भी सदा दग्ध रहता है। वे दिनों-दिन सूखते जाते हैं। कुष्ट दो प्रकार का होता है—एक श्वेत कुष्ट व एक गलित कुष्ट। छिपे-छिपे बुराई करना कुटिलता है यह श्वेत कुष्ट है। वचन कर्मों से सबकी प्रत्यक्ष बुराई करना दुष्टता है, यह गलित कुष्ट है। यह एक भयंकर रोग है। अहङ्कार के मारे लोग फूले-फूले फिरते हैं, अहङ्कार को डमरुआ रोग कहा। यह वह रोग है, जिसमें पेट डमरू की तरह फूल जाता है, अर्थात् प्लीहोदर या कछुई रोग। दंभ, कपट, मान व मद को नेहरुआ रोग कहा है। पानी के साथ एक विशेष प्रकार के कीड़े के शरीर में प्रविष्ट हो जाने के कारण यह रोग होता है। पहले सूजन होती है फिर घाव होता है और उसके बाद उसमें से डोरी की तरह का कीड़ा निकलने लगता है जो प्रायः गजों लम्बा होता है। यह रोग भी जल्दी अच्छा नहीं होता और मनुष्य को बेकाम कर देता है। इसी तरह दम्भी व कपटी मनुष्य का जीवन भी बेकाम होता है।

तृष्ना उदर वृद्धि अति भारी।
त्रिविध ईषना तरुन तिजारी॥
जुग विधि ज्वर मत्सर अविवेका।
कहँ लगि कहौं कुरोग अनेका॥

अर्थ—तृष्णा अत्यन्त भारी जलोदर रोग है। सुत, वित व यश की इच्छायें प्रबल तिजारी है। मत्सर और अविवेक दो प्रकार के ज्वर हैं। ये कुत्सित रोग तो अगणित हैं, इनका वर्णन कहां तक किया जाये।

तृष्णा से पेट नहीं भरता।

तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा।

हम वृद्ध हो जाते हैं मगर तृष्णा कभी वृद्ध नहीं होती है, सदैव बढ़ती ही रहती है। इसी तरह जलोदर रोग में बराबर पेट बढ़ता ही जाता है और मनुष्य दुर्बल होकर मर जाता है। पुत्र ईषणा, वित ईषणा और लोक ईषणा तीसरे दिन आने वाले ज्वर हैं, जिनको तिजारी कहते हैं। इनको तरुण तिजारी कहा है, क्योंकि ये नित्य नवीन बने रहते हैं। ज्वर दो प्रकार के कहे गये हैं—एक माहेश्वर ज्वर

व एक वैष्णव ज्वर। माहेश्वर ज्वर के आठ भेद हैं। वातज, पित्तज वात-पित्तज, वात-कफज, पित्त-कफज, सन्निपात और आगंतुज। वैष्णव ज्वर के पांच भेद हैं। सतत, संतत, अन्येद्यु, तृतीयक और चतुर्थक। वैष्णव ज्वर को विषम ज्वर कहते हैं और माहेश्वर ज्वर को शीत ज्वर। मत्सर विषम ज्वर है और अविवेक शीत ज्वर। शीत ज्वर अन्त का ज्वर है जो मरण समय होता है। अविवेक भी आत्मा को नष्ट करने वाला है। अविवेक से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और मनुष्य को पतन की ओर ले जाती है। इसी से कहा है कि "विनाश काले विपरीत बुद्धि।" इस प्रकार के अनेक मानसिक रोग हैं, इनका वर्णन कहाँ तक किया जाये।

एक व्याधि बस नर मरहिं,
ए असाधि बहु व्याधि।
पीड़हिं संतत जीव कहँ,
सो किमि लहइ समाधि॥

अर्थ—एक ही रोग के वश होकर मनुष्य मर जाता है और ये तो असाध्य बहुत से रोग हैं, जो निरंतर जीव को पीड़ित करते करते हैं, तब वह भला कैसे समाधि को प्राप्त कर सकता है?

रोग तीन प्रकार के माने गये हैं—सुख-साध्य, कष्ट-साध्य और असाध्य। असाध्य वे हैं जिनमें वैद्य जवाब दे देते हैं। एक ही शारीरिक रोग मनुष्य को मृत्यु के मुख में पहुँचा देता है और ये मानसिक रोग तो अनेक हैं, जो मनुष्य को पीड़ित किये हुए हैं और यह असाध्य भी है।

योग-साधना में आहार-विहार में गड़बड़ी करने पर, सोने-जागनेमें अनियमित रहने पर तथा यम-नियम का ठीक प्रकार से पालन न करने पर मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं और फिर शारीरिक रोग।

मैंने अनेक ऐसे साधकों को देखा है, जिन्होंने बिना यम-नियम का पालन किये आसन, प्राणायाम, जप, ध्यान का अभ्यास शुरू कर दिया। आरंभ में तो उन्हें कुछ सफलता दिखाई दे। मगरबाद को व्याधियों व अन्य अन्तरायों ने आ घेरा। किसी में क्रोध व चिड़चिड़ापन बढ़ गया, किसी में काम बढ़ गया और किसी में लोभ, मोह, अभिमान, राग-द्वेष आदि बढ़ गया। इन मानसिक रोगों को प्रारंभ में दूर नहीं किया गया तो फिर अनेक शारीरिक रोग आने लगे, फिर साधन शिथिल पड़ जाते हैं या छूट जाते हैं। ऐसे ही लोग योग आदि की बुराई करने लगते हैं और कहने लगते हैं कि इस कलिकाल में योग-साधन से रोग पैदा हो जाता है। योग्य गुरु के अभाव में उनकी यह दशा हो जाती है।

वास्तव में ये व्याधियां हैं जो अन्तराय कहलाती हैं। इनके आ जाने पर चित्त चंचल हो जाता है और स्थिर नहीं होता, अभ्यास में रुकावट आ जाती है। जब साधक योगकी प्रारंभिक सीढ़ियों पर ही अटक जाता है तब उसे समाधि की प्राप्ति कैसे हो सकती है?

अतएव चित्त में मानसिक विकार उत्पन्न होते ही सावधान हो जाना चाहिए और गुरु की शरण में जाकर उसे दूर करने का उपाय करना चाहिए।

(२) स्त्यान—शरीर की सुस्तीको आलस्य कहते हैं और मन की सुस्ती को स्त्यान कहते हैं। योग-साधन आरंभ तो कर दिया मगर थोड़े दिन बाद मन बहाने बनाने लगा कि यह स्थान योग-साधन लायक नहीं है। हिमा

समय में कोई एकान्त स्थान तलाश करके तब साधन शुरू करना चाहिए। कभी मन कहने लगता है कि इस उमर में कौन इतने सवेरे उठे और स्नान, ध्यान, आसन, प्राणायाम करे, अभी इस तपस्या को छोड़ो, चौथेपन में योग-साधन करेंगे। इस प्रकार से मन में सुस्ती आने लगती है और वह अनेक बहाने बनाने लगता है, यह विघ्न ही साधन छुड़ा देता है।

मेरे एक साथी थे। वे एक अमीर सेठ के लड़के थे। हम लोग एक साथ प्रातः घूमने जाया करते। थोड़े दिनों बाद हम लोगों का साथ एक महात्माजी से हो गया। वे बड़े अच्छे सन्त, वीतरागी, योगी व विद्वान थे। उन्होंने हम लोगों को योग-पथ पर चलाना शुरू किया। उनकी साधना सिखाने की शैली बड़ी अच्छी व रुचिकर थी। हम लोग प्रातः तीन बजे उठकर नगर से दूर जंगल में चले जाते और वहाँ नदी में स्नान करके आसन, प्राणायाम का अभ्यास करते। थोड़े दिनों तक तो वह सेठ का पुत्र हम लोगों के साथ अभ्यास करता रहा, मगर उसके बाद उसे स्त्यान विघ्न ने आ धर दबाया। वह कहने लगा कि अभी हम लोगों की नई उमर है, यह अन्य योग-साधन के लिए नहीं है, अभी तो खेलने व खाने की आयु है, पचास वर्ष की आयु के बाद योग-साधन करेंगे। धीरे-धीरे उसने हम लोगों का साथ छोड़ दिया, वह व्यापार करने लगा। अच्छा पैसा पैदा किया और वह बड़ा सेठ भी बन गया। कोई तीस साल बाद उससे एक बार मुलाकात हुई तो मैंने पूछा कि सेठजी ! कुछ भगवान का भजन भी होता है या नहीं ? उसने बड़े उदास भाव से कहा कि मित्र ! मैंने महात्माजी के संरक्षण में तुम्हारे साथ योग-साधन शुरू किया था, मगर न मालूम मेरे चित्त में क्या विकार उठा कि मैं सब साधन छोड़ बैठा। मैं रुपया कमाने में फँस गया और जीवन बर्बाद हो गया। अब तो यह शरीर रोगों का घर बन गया है। अब कुछ साधन करना चाहता हूँ तो सीधे बैठ नहीं पाता हूँ। राम-राम रटना चाहता हूँ तो जबान नहीं हिलती है। उस सेठ का अन्त बड़ा दुखद रहा। मरते समय राम-नाम भी नहीं बोल सका।

इस लेखमाला को लिखते समय एक सज्जन आये। वे शुरू में योग-साधन करते थे। आसन, प्राणायाम का अभ्यास भी चल पड़ा था, मगर थोड़े दिन बाद मन में सुस्ती आने लगी तथा अभ्यास में शिथिलता आने लगी। उन्होंने इस स्त्यान अन्तराय को दूर करने का कोई उपाय नहीं किया तथा साधन छोड़ दिया। कुछ समय बीतने के बाद उनके शरीरमें रोगोंने आक्रमण करना शुरू किया। एक बार प्लुरिसी हो गई, उसका इलाज किया तो दिलमें धड़कन होने लगी। वे बताने लगे कि एक रोग की चिकित्सा करता हूँ, तो दूसरा मर्ज उभड़ आता है। इस समय उन्हें गैस वायु का कष्ट है। सीने में दर्द हुआ करता है, सिर में चक्कर आता रहता है, कब्ज भी रहती है तथा नींद नहीं आती। वे डाक्टरों व वैद्यों से परेशान हो गये हैं। मेरे पास सलाह लेने आये थे कि क्या योग में कोई ऐसी क्रियाएँ हैं जिनसे उनके रोग दूर हो सकते हैं। मैंने जीवन तत्व साधन की क्रियाओं को करने के लिए कहा, उसकी पुस्तक दी। हर क्रिया को उनसे कराके सही ढंग से बता दिया। मैंने उन्हें आश्वासन दिया कि आप इन क्रियाओं को निश्चयपूर्वक करें, तो आपके सम्पूर्ण रोग नष्ट हो जायेंगे। मैंने उन्हें सलाह दी कि कुछ दिन आप योग-प्रशिक्षण केन्द्र, श्रीसिद्ध-गुफा सवाई भी चल

जावें और श्री गुरुदेवजी महाराज से योग-साधन सम्बन्धी बातें भी जान लें।

स्त्यान एक धोखा देने वाला अन्तराय है। जब यह विघ्न चित्त में आ जाता है, तब साधक का पतन होने लगता है। यदि कोई समर्थ योगी गुरु मिल जाये तो उसके इस अन्तराय को हटाकर पुनः साधन-पथ पर लगा सकता है। स्त्यान विघ्न आने पर साधन को छोड़ नहीं देना चाहिए, बल्कि गुरु की शरण में चला जाना चाहिए।

एक थे सेठजी, करोड़ों रुपये के स्वामी थे। बहुत बड़ी कोठी, सम्पत्ति थी, बड़ा कारोबार था। कितने ही मुनीम उनके यहाँ काम करते थे। सेठजी का नियम था कि नित्य प्रातः नदी की ओर जाते और वहाँ शिव के मन्दिर में एक लोटा जल चढ़ाकर कुछ स्तुतियाँ कर लेते और लौट आते। दिन भर अपने कारोबार में व्यस्त रहते। न कभी दान करते, न अतिथि सेवा और न भजन, न योग-साधन।

एक दिन सेठजी अपने कार्यालय में बैठे थे। बड़ी-बड़ी बहियों को देख रहे थे। तभी एक योगी साधु वहाँ पहुँचा और बोला—सेठजी! मंजिल दूर है और समय कम है, कुछ उपाय कर लीजिये। सेठजी ने न उसकी बात सुनी और न उसकी ओर देखा। योगी ने फिर कहा—सेठजी! यात्रा पर चलना है, कुछ सम्बल जुटा लीजिये नहीं तो पछताना पड़ेगा। इस बार सेठजी ने उसकी तरफ देखा और कहा कि—बाबा! यहाँ बक-बक करने से क्या लाभ है। हमारा समय नष्ट न करो, यदि पैसे चाहिए तो ले लो। मुनीमजी! बाबा को दस पैसे दे दो। योगीने कहा कि—मुझे पैसे नहीं चाहिए। मैं तो केवल चेतावनी देने आया हूँ कि मनुष्य का शरीर साधन के लिए मिला है। धन कमाने व भोग-विलास में जीवन व्यतीत करने से तो अन्त में पछताना ही पड़ेगा।

जो न तरै भवसागर नर-
समाज अस पाय।
सो कृत निन्दक मन्द मति,
आत्माहन गति जाय॥

कुछ मुक्ति का भी उपाय कीजिये। कुछ समय योग-साधन में लगाइये। भगवान का भजन भी किया कीजिये।

सेठजी खीज से गये और बड़ी रुखाई से बोले—बाबा! आप कहीं और जाकर उपदेश दीजिये। मेरे पास इसके लिए समय नहीं है। भजन-पूजन चौथेपन में किया जाता है। अभी तो मेरे ऊपर घर-गृहस्थी व कारोबार का भार है, आप जाइये।

योगी ने पुनः कहा कि सेठजी! सोच लीजिये। सफर लम्बा है और आपका हाथ खाली है। आपके चित्त को स्त्यान अन्तराय ने घेर लिया है। सेठजी क्रोधित हो गये और गरजकर बोले कि इस बाबा को हटाओ यहाँ से। मेरा अमूल्य समय नष्ट कर रहा है, इसे धक्के देकर बाहर निकाल दो। योगी ने कहा—निकालने की आवश्यकता नहीं है, मैं स्वयं ही चला जाता हूँ। यह कहकर योगी साधु बाहर चला गया और नदी के पास एक वृक्षके नीचे बैठकर प्रभुका ध्यान करने लगा।

(क्रमशः)

—**

* ईश्वर को पुकारने के लिए दिन और रात की सन्धि-वेला सबसे उपयुक्त है। इस समय मन स्थिर और पवित्र होता है।

● प्रेषक —श्री केशव उपाध्याय, वाराणसी

श्री प्रभु-कृपा—

संकट में अभय तथा प्रकाशदर्शन

श्री 'सिद्धयोग' पत्रिका के नियमित पाठक, अवांछनीय तत्वों द्वारा बलिया जिले के श्री राजेश तिवारी के अपहरण एवं हमारे दादा गुरुदेव महाप्रभु श्री रामलाल महाराज द्वारा स्वयं उसको उसके घर तक सकुशल पहुँचाने वाली घटना से अवश्य ही परिचित होंगे। श्री महाप्रभु जी के प्रेम में रंगे इस अदीक्षित परिवार पर श्री प्रभुजी की विशेष कृपा रही। श्री राजेश के छोटे भाई श्री संजय कुमार तिवारी, जिसकी अवस्था इस समय लगभग चौदह वर्ष है, के साथ श्रीप्रभु-कृपा की एक विचित्र घटना घटित हुई।

इस घटना को घटित हुए मात्र कुछ दिन हो रहे हैं। श्री संजय कुमार पर होने वाली श्री महाप्रभु जी की अहेतुकी कृपा के चरित्र को साधकों के सम्मुख अपनी टूटी-फूटी भाषा में लिखने का प्रयास किया जा रहा है।

संजय के परिवार वालों ने अपने खेत में सब्जी एवं फल आदि बोया हुआ था, जिसकी निगरानी दिन में बच्चे एवं रात में परिवार का कोई बड़ा सदस्य किया करता था। खेत की निगरानी के लिये खेत के बीच में बांस की चार बल्लियाँ गाड़ कर उस पर चारपाई रख दी गई थी। निगरानी वाले स्थान से करीब दो किलोमीटर दूर स्थित एक गाँव में एक भैंसा पागल हो गया था। कई आदमियों को मार-मार कर उनसे अपंग बना दिया था। एक आदमी को तो इस भैंसे ने इस प्रकार घायल कर दिया कि अस्पताल जाते-जाते उसका प्राणान्त हो गया। इस आतंकवादी पागल भैंसे ने अब संजय के गाँव एवं उसके आस-पास के गाँवों में अपनी खुराफात आरम्भक कर दी थी। अतः अब इस क्षेत्र का प्रत्येक प्राणी उससे आतंकित था। विशेष कर बच्चों एवं महिलाओं के लिए तो वह प्राण लेवा जानवर ही हो गया था। एक दिन इस परिवार का एक बच्चा सायंकाल करीब सात बजे खेत की निगरानी पर से वापस घर आया तो संजय के चाचाजी ने संजय से कहा कि बेटे! अब तुम खेत पर चले जाओ, उसकी निगरानी करते रहो, हम खाना पीना खाकर रात के करीब नौ बजे खेत पर पहुँचेंगे तब तुम वापस आना। चाचा की आज्ञा पाकर संजय कुमार अपने खेत की निगरानी करने के लिए चला गया। रात के नौ बज गये, धीरे-धीरे दस बजे परन्तु उसके चाचा खेत पर नहीं पहुंच पाये। यह खेत जिसकी निगरानी करने संजय कुमार गया था, बलिया से सिकन्दरपुर जाने वाली सड़क के एक तरफ थोड़ी दूर पर ही है। अतः जब तक सड़क पर यात्रियों और सवारियों के आने-जाने का क्रम जारी रहा तब

तक तो संजय कुमार, बिना किसी संशय के खेत की निगरानी करता रहा परन्तु जब यात्रियों एवं सवारियों का सड़क पर आना-जाना रात्रि के करीब साढ़े दस बजे बन्द सा हो गया तो उसे अचानक उस खूनी भैंसे की याद आ गई। उसे डर लगने लगा। जैसे-जैसे भैंसे की याद तेज होती गयी। वैसे-वैसे उसके भय की सीमा बढ़ती गयी, चूंकि उसकी माताजी आराध्यदेव को तथा सिद्धेश्वर दादा गुरुदेव महाप्रभु जी की विधिवत् आरती पूजन किया करती हैं एवं उन्होंने अपने बच्चों में कूट-कूट कर यह श्रद्धामय भाव भी भर दिया है कि संकट की घड़ी में ये दोनों महाशक्तियाँ अवश्य ही सहायक हुआ करती हैं, अतः अचानक उसके मन में अपनी पूजनीया माताजी द्वारा बतलायी गई यह बात याद आ गई। वह खेत में पड़ी चारपाई पर बैठकर जोर-जोर से उस वीरान स्थान में चिल्ला-चिल्ला कर यह मन्त्र जप करने लगा।

'सद्गुरु जय-जय, रामलाल जय-जय,
अखण्ड ज्योति प्रभु रामलाल जय-जय।'

ज्यों-ज्यों उसके अन्दर भय की मात्रा बढ़ती गई, त्यों-त्यों वह जोर-जोरसे उपरोक्त मंत्र का जाप तेज आवाजमें जल्दी-जल्दी करने लगा अभी उसने मात्र पन्द्रह-बीस मिनट जाप किया होगा कि उसे काफी दूरी पर किसी के तेज गति से आने की आवाज सुनाई दी। उसके भय की सीमा न रही, उसने मन में सोच लिया कि हो न हो वह खूनी भैंसा ही इधर आ रहा है आज मेरी जान अवश्य ही चली जायगी। फिर उसे तेज प्रकाश दिखलाई दिया, तब वह और भी डर गया। वह सोचने लगा कि हो सकता है कि खूनी भैंसे को टार्च की रोशनी में दौड़ते हुए लोग पीछे आ रहे हों। उसने चारपाई पर पड़ा बिस्तर एवं ओढ़ना से पूरी तरह से अपना शरीर ढक लिया। इतना करने के बावजूद वह जोर-जोर से उपरोक्त मन्त्र का जाप भी करता रहा।

उसने बताया कि यद्यपि मैंने खूब अच्छी प्रकार से अपना शरीर ढक लिया था और अपनी आँखें बन्द करली थीं, परन्तु उसके अन्दर भी एक विचित्र प्रकार का स्पष्ट प्रकाश दिखलायी दे रहा था। थोड़ी देर में खड़ाऊँ जैसी आवाज स्पष्ट सुनाई देने लगी, अतः वह और तेजीसे मन्त्र-जाप करने लगा। थोड़ी देर में उसे अनुभव हुआ कि खड़ाऊँ की आवाज अब उसके पास ही आती जा रही है। अतः अब उसे खूब शान्ति मिली, फिर भी वह भय वश जोर-जोर से मन्त्र-जाप करता रहा।

इसके बाद उसने बतलाया कि उसे यह स्पष्ट अनुभव होने लगा था कि खड़ाऊँ पहने कोई महापुरुष खेत के चारों तरफ घूम-घूम कर चक्कर लगा रहे हैं। एक आश्चर्य की बात जो वह बता रहा था यह थी कि जब मैं जोर-जोर से जल्दी-जल्दी मन्त्र-जाप करता था तो खड़ाऊँ वाले महापुरुष खड़ाऊँ पर दौड़ रहे हैं? ऐसी आवाज आ रही थी एवं जब मैं धीरे-धीरे मन्त्र-जाप करता था तो ये महापुरुष अपनी साधारण गति से खेत के चारों तरफ चक्कर लगा रहे हैं ऐसा लगता था। इस बीच बिस्तर ओढ़ना शरीर के ऊपर डालकर अच्छी प्रकार से आंखें बन्द करने के बाद भी उसे एक विचित्र प्रकाश का दर्शन बराबर होता रहा।

यह क्रम रात्रि करीब सवा दस बजे से लेकर रात्रि के डेढ़ बजे तक चलता रहा, परन्तु भय की मात्रा अब उसके अन्दर प्राय

समाप्त ही हो गई थी। रात्रि के करीब डेढ़ बजे के बाद उसके चाचाजी जब खेत के पास पहुँचे तो उन्हें जोर-जोर से इस मन्त्र-जाप की आवाज सुनाई दी। अतः उन्हें यह समझते देर नहीं लगी कि संजय डर गया है। अतः उन्होंने कहा कि क्यों क्या संजय! डर रहे हो तुम? तब उसे एकाएक प्रकाश-दर्शन होना तथा खड़ाऊँ की आवाज सुनाई देना बन्द हो गया। इसके पश्चात् उसने उत्तर दिया। हाँ, मैं तो डर के मारे काँप रहा था, परन्तु जब से इस मन्त्र का जाप आरम्भ किया है उसके थोड़ी देर बाद ही पता नहीं, कौन महापुरुष जिनका शरीर महान प्रकाशवान था हमारी रक्षा के लिए चक्कर लगा रहे थे। उसके चाचा ने कहा कि चलो तुम्हें हम घर पहुँचा दें तो उसने कहा कि नहीं, अब हमें डर नहीं लग रहा है, मैं अकेला ही चला जाऊँगा। यह उपरोक्त पंक्तियों का जाप करता हुआ महान आनन्द के साथ अपने घर आ गया।

अपने घर पहुँचकर संजयकुमार ने अपने ऊपर बीती इस घटना को जब अपनी माता तथा अपने बड़े भाई राजेशकुमार तिवारी को सुनाया तो उन दोनों प्रभु के कृपा-पात्र बच्चों को अविरल अश्रुपात होने लगा तथा बार-बार शरीर कम्पयमान होता रहा। श्री प्रभुजी की इस अहेतुकी कृपा को याद कर उसका पूरा परिवार रात भर आनन्द सागर में गोता लगाता रहा। इस घटना को सुनाते समय कई बार श्री प्रभुजी के प्रेम की वजह से उन लोगों का कण्ठ भर आया था। यह रही उस करुणा-सागर हमारे दादा गुरुदेव महाप्रभु जी की अपने अबोध बालक पर अहेतुकी कृपा। इस प्रकार के एक नहीं अनेकों चरित्र आपको अपने इस 'सिद्धयोग' दरबार में अवश्य ही देखने एवं सुनने को मिल जायेंगे। अपने स्वाध्याय एवं प्रेम के अनुसार जिसकी जैसी श्रद्धा बन गयी है, उसी के अनुसार श्री प्रभु दरबार का प्रत्येक बच्चा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अवश्य ही लाभान्वित होता है। अब अपने आराध्यदेव के युगल चरणों में कोटिशः साष्टांग प्रणाम के साथ प्रार्थना है हम लोगों के अवगुणों को भुलाकर वे अपनी करुणा सदैव बनाये रखने का अनुग्रह करते रहें।

प्रज्ञा विमुक्ति

(१) ज्ञेय शून्यावस्था। अर्थात् जो जानना था जान लिया अब कुछ ज्ञातव्य बाकी न रहने से जिज्ञासा का अन्त हो गया।

(२) हेय शून्यावस्था। अर्थात् जो कुछ छोड़ने योग्य था अविद्या आदि ५ क्लेशों को छोड़ दिया अब कुछ छोड़ने योग्य (हेय) बाकी नहीं रहा इसलिए छोड़ने की इच्छा (जिज्ञासा) का भी अन्त हो गया।

(३) प्राप्य-प्राप्त अवस्था। अर्थात् प्राप्य (ज्ञान) जो कुछ था पालिया अब कुछ प्राप्तव्य बाकी न रहने से प्रेप्सा=प्राप्त करने की इच्छा का भी अन्त हो गया।

(४) चिकीर्षा शून्यावस्था। अर्थात् ज्ञान का उपाय कर चुका अब कुछ कर्त्तव्य शेष न रहने से करने की इच्छा (चिकीर्षा) का भी अन्त हो गया।

इन चारों का नाम प्रज्ञा की विमुक्ति है।

● डॉ० विनयसिंह

महर्षि रमण से पालब्रण्टन की वार्ता

आज भौतिकता से परिपूर्ण हम सभी जब आध्यात्मिक अथवा किसी मौलिक प्रश्नों का विवेचन करते है। उस समय हमारे तर्कों में वर्तमान परिस्थिति-जन्य विचारधारायें भी आ टकराती हैं, अतः मात्र विवेचन के बल से आध्यात्मिक प्रश्नों का समाधान सम्भव नहीं है.? साधना-जन्य अन्तरंग अनुभूतियाँ ही तमाम संकल्पों-विकल्पों का समाधान हैं। पालब्रण्टन की पृष्ठभूमि उस समय भी आज जैसी हम भारतीयों की है, वैसा ही थी। अतः उसके शङ्कालु तर्क-ग्रस्त मन में नाना भावों का उदय-अस्त आध्यात्म के प्रति होता रहता था। सिद्ध सद्गुरु के चरणों में जाने से ही इन तमाम संकल्प-विकल्पों का नाश सम्भव है। संकल्प-विकल्प रहित मनोदशा का ही नाम समाधि है। अतः हम देखेंगे कि पालब्रण्टन के मनमें उठने वाले प्रश्नों की शृङ्खला हमारे मन में उठने वाले संशयों से सर्वथा भिन्न नहीं है। महर्षि रमण से मिलने से पूर्व पत्रकारिता पेशे वाला अँग्रेज पालब्रण्टन प्रश्नों का फेहरिस्त बना चुका था। यह पूछूंगा, वह पूछूंगा, परन्तु महर्षि के सानिध्य में जाते ही वे सारे प्रश्न एक-एक करके गायब होने लगे। उसे भासने लगा कि उनका पूछना या न पूछना एक जैसा है क्योंकि अचानक उसके अन्तस्तल में एक अविरल शान्ति बैठती जा रही थी। जिससे मन को अलौकिक विश्राम का बोध होने लगा। आश्रम में निवास करते हुए उसे जब कुछ दिन व्यतीत हो गये तो एक दिन जिस समय वह महर्षि के पास बैठा हुआ था तब बड़े शान्त मन से।

महर्षि ने कहा—तुम्हें आश्रम में रूखा-सूखा ही भोजन मिलता है। आश्रमवासी! तुम लोगों की अभिरुचि से भी भिन्न नहीं है।

पालब्रण्टन ने विनम्रतापूर्वक कहा—भोजन का प्रश्न तो बहुत महत्व का नहीं है, आपका सानिध्य पाना ही मेरा अहोभाग्य है, क्योंकि जिस खोज में मैं भारत आया हूँ, वही खोज मेरे लिए अधिक प्रधान है।

महर्षि ने बड़े ध्यानसे उसकी बात सुनी और बोले—यह तो बड़ा अच्छा उद्देश्य है। इस कथन से पालब्रन्टन को उत्साह मिला। अतः उसने कहा—भगवन्! मैंने पश्चिम के सारे दर्शनों को पढ़ा है। विज्ञान का भी अध्ययन किया है। मुझे ज्योति का आलोक चाहिए।

महर्षिने स्वीकारोक्ति में सिर हिलाया मानो कह रहे हां—बहुत अच्छा! अच्छी तरह तुम्हारी वार्ता को समझा।

उसने पुनः कहा—"मैंने कई मत और सिद्धान्त सुने हैं, मेरा मन उनसे ऊब उठा है। जिसको प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं है, उस सबके बारे में मुझे शङ्का है, क्षमा कीजियेगा, मैं धार्मिक नहीं हूं। मेरा किसी धर्म पर विश्वास नहीं है। भौतिक अनुभूति से परे क्या और

किसी चीजकी सत्ता है ? यदि है तो मैं उसको कैसे जान सकता हूँ ? पश्चिम के विद्वान, हमारे वैज्ञानिक जीवन के तल में जो छिपा है जो सत्य है, उसका कुछभी उन्हें ज्ञान नहीं है। कहा जाता है कि आपके देश भारत में ऐसे लोग हैं, जो इस सत्य को जता सकते हैं, जो पश्चिमी विद्वानों के लिए असम्भव है। आप मुझे इसी ज्ञानके आलोक का अनुभव कर लेने में मेरी मदद कर सकते हैं ?

महर्षि बड़ी मृदुता के साथ बोले—"तुम मैं कहते हो; मैं जानना चाहता हूँ कि यह मैं कौनसी चीज है ? पालब्रण्टन हैरान रह गया। अन्त में उत्तर में अपनी ओर उँगली का निर्देश कर अपना नाम बता दिया। तुम उसको जानते हो ?

पालब्रण्टन—क्यों नहीं, सारी उम्र मैंने उसे जाना है। महर्षि ! लेकिन यह तो तुम्हारा शरीर है, तुम कौन हो ? पालब्रंटन इस अजीव प्रश्न का तत्कालिक उत्तर न दे सका।

महर्षि ने कहा—"मैं" को जान लो फिर तुमको सत्य मालूम हो जायगा। करना तो एक ही काम है, अपनी आत्मा की झाँकी ले लो। सारी समस्याएँ हल हो जायँगी।

पालब्रण्टन—तब मुझे क्या करना होगा ?

महर्षि—अपनी आत्मा के स्वरूप के बारे में गहरा अध्ययन लगाने से तथा निरन्तर मनन से वह ज्योति पाई जा सकती है ?

पालब्रण्टन—मैंने बहुधा मग्न होकर तत्व का ध्यान किया है, परन्तु सफलता अथवा उन्नति के कोई चिह्न नजर नहीं आये।

महर्षि—तुम्हें क्योंकर मालूम होगा। आध्यात्मिक साधना में अपनी उन्नति का ठीक-ठीक अंदाजा लगा लेना कोई आसान बात नहीं है।

इस मार्ग में गुरु की कोई आवश्यकता नहीं होगी ? होती ही है। साधक को जैसी भी सहायता की आवश्यकता होती है, सद्गुरु प्रदान करते ही हैं। परन्तु वास्तविक झांकी तो साधक ही अपने आप करता है।

गुरु की सहायता के रहते कितने समय में साधक अपने ध्येय को पा सकता है ? यह सब जिज्ञासु के मन के परिपाक पर निर्भर है। बारूद में आग लगते क्या देरी लगती है, पर कोयले में आग दहकने में कितनी देरी लगती है ? तुम्हीं सोच कर देखो ?

पा०—क्या इसके लिये निर्जन बन और पर्वतों का आश्रय लेना पड़ेगा ?

म०—कर्म संन्यास की आवश्यकता तुम्हें नहीं है। तुम नित्य एक-दो घण्टे ध्यान करोगे तो अपने सांसारिक कर्त्तव्यों का त्याग करना आवश्यक नहीं होगा। ध्यान की धारा तुम्हारे मन में कार्य करते समय भी बहती रहेगी। ध्यान के ही भाव तुम्हारे कार्य-कलाप में भी प्रकट होने लगेंगे।

पा०—ऐसा करने का परिणित क्या होगा ?

म०—ज्यों-ज्यों ध्यान में उन्नति करने लगोगे वैसे-वैसे लोगों के प्रति और अन्य घटनाओं के प्रति तुम्हारे दृष्टिकोण में भारी परिवर्तन परलक्षित होगा। तुम्हारे कार्य-कलाप बलात् ध्यान-मार्ग का अनुकरण करने को उन्मुख हो जायेंगे। इस संसार में साधक को निजी स्वार्थ का समर्पण कर डालना होगा। अपने झूठे अहं को छोड़ना ही सच्चा संन्यास है। कर्म और ज्ञान में कोई विरोध नहीं है।

पा०—परन्तु भगवन् ! यदि कोई काम-काज में डूबा रहे तो फिर ध्यान करने के लिये उसको समय ही कहाँ मिलेगा ?

म०—ध्यान के लिये एक अलग निश्चित् समय रखने की आवश्यकता कच्चे अभ्यास में ही रहा करता है। ध्यान में उन्नति करने वाला, चाहे काम में मग्न रहे अथवा न रहे, अपने अन्तरतम में ध्यान का सुख भोगा करता है। सभी मानव शाश्वत आनन्द के लिये लालायित हैं। सभी नित्यानन्द के अभिलाषी हैं। ध्यान-समाधि के द्वारा ही इसकी उपलब्धि होती है। निःसन्देह। प्रत्याहार से, दृष्टि को भीतर की ओर मोड़कर अन्तरंग का अवलोकन करते-करते आत्म-दर्शन होता है।

पा०—तो अन्त में क्या बच रहेगा ? उस हालत में आदमी या तो एकदम बेसुध हो जायेगा या मूर्ख बन जायेगा।

म०—(हँसकर) कभी नहीं, इसके विपरीत वह नित्य बोध का भागी बनेगा। मूर्ख नहीं, वरन् भारी ज्ञानी बनेगा। आत्म झाँकी होने पर एक विचित्र वस्तु उभरेगी और साधक के सारे शरीर पर अधिकार जमा लेगी। वह निराली वस्तु मन बोध के परे है। वह अनन्त है, दिव्य है, नित्य है। इसे ही मुक्ति, निर्वाण कहा गया है। इस दशा में मानव अपने को खोता नहीं है, वास्तव में वह अपने को पाता है।

जब तक मानव सदात्मा की खोज में तल्लीन न हो जाय तब तक उसे आजीवन शंका संसयों से छुटकारा नहीं मिलता। बड़े-बड़े वैज्ञानिक, राजनीतिज्ञ सम्राट किसी ने स्वयं पर अधिकार पाया है ? परन्तु जो अपने अन्तरतम के तह तक पहुँच गया है उसकी मुट्ठी में सबसे अधिक ताकत है। जब तुम अपने ही बारे में जान नहीं पाये कि तुम कौन हो तो फिर संसार भर की बातों का मर्म जानने की चेष्टा किस काम की ? लोग इस आत्म-जिज्ञासा से बचना चाहते हैं ? परन्तु इससे उत्तम कुछ भी करणीय नहीं है।

सत्य का अन्वेषण, तत्व का जान लेना हिन्दुओं और यूरोपियनों दोनों के लिये एकसा है। जो दुनियावी कामों में अधिक ग्रस्त हैं उनके लिए कुछ यह अधिक कठिन हो सकता है।

चित्त विमुक्ति

(१) बुद्धि सत्व कृतार्थता। अर्थात् बुद्धि आदि (अन्तःकरणों) का कार्य समाप्त हो गया।

(२) गुणलीनता। अर्थात् प्रकृति के, अन्तःकरण रूप में परिणत हुए गुण, अपने कारण (प्रकृति) में लीन हो गये।

(३) आत्मस्थिति। प्रकृति के तीनों गुणों से बाहर होकर आत्मा को अपने स्वरूप में स्थिति हो गई। अब यह (जीव) आत्मा परमात्मा को साक्षात् करेगा। अब कुछ बाकी नहीं रहा।

इन तीनों को चित्त की विमुक्ति कहते हैं।

● डॉ० ऋषिराज वाशिष्ठ

योग-शास्त्र में दृष्टि

दृष्टि

दृष्टि का अर्थ है देखना। जोकि संस्कृत के "दृश" धातु से अवतरित किया गया है। इस दृष्टि के अभ्यास के द्वारा विभिन्न प्रकार की सिद्धियों को साधक प्राप्त करता है। शास्त्र में विभिन्न प्रकार की सिद्धियों का वर्णन है। कुछ दृष्टि शक्तियों के द्वारा प्राप्त होता है। जिसका नाम है वशीकरण सिद्धि है या सम्मोहन सिद्धि। योग-शास्त्र में पाँच प्रकार की दृष्टि के बारे में उल्लेख है जो कि निम्नलिखित है—

(१) भ्रूमध्य दृष्टि, (२) समदृष्टि,
(३) नासिकाग्र दृष्टि, (४) अर्धो उन्मेष दृष्टि,
(५) नेत्र बन्द दृष्टि।

(१) भ्रूमध्य दृष्टि—सिद्धासन में बैठकर दोनों हाथ अंजली मुद्रा या ज्ञानमुद्रा में रखते हुए दोनों भौं के मध्य में अपलक देखना ही भ्रूमध्य दृष्टि है। इस दृष्टि के द्वारा साधक को करोड़ों सूर्य का प्रकाश अर्थात् परम-ज्योति का दर्शन होता है, इस दृष्टि से शाम्भवी मुद्रा का भी फल मिलता है।

(२) समदृष्टि—सिद्धासन में बैठकर सम भाव में अपलक देखने को समदृष्टि कहते हैं अर्थात् इसे त्राटक भी कहते हैं। इसके द्वारा त्राटक अभ्यासी सफलता प्राप्त कर पाता है। इसी दृष्टि के अभ्यास से साधक सम्मोहन सिद्धि प्राप्त कर लेता है अर्थात् योग-शास्त्र में वशीकरण सिद्धि भी कहते हैं।

(३) नासिकाग्र दृष्टि—सिद्धासन में स्थिरता पूर्वक बैठकर नासिकाग्र भाग पर अपलक देखना ही नासिकाग्र दृष्टि है। दृष्टि के अभ्यास से पंचतत्व के बारे में ज्ञान प्राप्त हो जाता है अर्थात् पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि आकाश इन पाँच तत्वों का दर्शन नासिकाग्र दृष्टि के द्वारा सम्भव हो पाता है। इन्हीं ५ तत्वोंसे ब्रह्माण्ड एवं क्षुद्र ब्रह्माण्ड और शरीर पर अधिकार हो जाता है, इसलिए इस दृष्टि को उत्तम माना गया है।

(४) अर्ध उन्मेष दृष्टि—सिद्धासन में सुखपूर्वक बैठकर आँखों को अर्धतन्द्रावस्था में देखना ही अर्धउन्मेष प्रदान करती है इस दृष्टि सिद्धि प्राप्त करने में सहायता प्रदान करती है इस दृष्टि को प्राप्त करने में सहायता प्रदान करती है इस दृष्टि के द्वारा उन्मनी भाव की सिद्धि प्राप्त होती है जिससे मन के ऊपर अधिकार हो जाता है और परम शान्ति की प्राप्ति होती है यह दृष्टि गुरुनानक, गौतम बुद्ध एवं शिवजी की तस्वीर में देखा गया है।

(५) नेत्र बन्द दृष्टि—स्थिरत पूर्वक सिद्धासन में बैठकर आँख बन्द करना ही नेत्र बन्द दृष्टि कहलाती है इससे ध्यान में विशेष सहायता मिलती है तत्पश्चात समाधि प्राप्त कर पाने में भी सफलता प्राप्त होती है।

(शेष पृष्ठ ३० पर)

● श्री सुरेन्द्र बहादुरसिंह

सत्कार्यवाद तथा प्रकृति

प्रकृति को प्रधान अथवा अव्यक्त भी कहा जाता है, इसका अस्तित्व अनुमान के द्वारा सिद्ध होता है। जो कुछ भी भौतिक है अर्थात् भूत-द्रव्य और शक्ति दोनों ही प्रकृति से उत्पन्न हैं। प्रकृति परिणामी है और देश-कालयुक्त संपूर्ण सृष्टि परिणाम है। सांख्य-योग के इस सिद्धान्त को परिणामवाद अथवा परिवर्तन का सिद्धांत कहा जाता है। आकाश और काल प्रकृति के ही रूप हैं। प्रकृति से पृथक इनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। प्रकृति ही देश, काल तथा भूत-द्रव्य का उपादान कारण है।

प्रकृति के अनुमान की प्रक्रिया को समझने के लिए सत्कार्यवाद का सिद्धान्त समझ लेना आवश्यक है। न्याय तथा वैशेषिक असत्कार्य-वाद का सिद्धान्त मानते हैं। नैयायिकों का कहना है कि कोई भी कार्य अपनी उत्पत्ति से पहले असत रहता है अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व कार्य का अपने कारण में अभाव रहता है, किन्तु सांख्य-दर्शन कहता है कि कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व अपने कारण में सत् रहता है अर्थात् कार्य का अभाव अपनी उत्पत्ति से पूर्व भी नहीं रहता, अन्तर केवल इतना होता है कि जिसे हम कार्य की उत्पत्ति कहते हैं, वह उसीका व्यक्त स्वरूप है। जो पहले अपने कारण में अव्यक्त रूप में सत् था। जब दूध से दही बनता है तो दही एक नई घटना नहीं है वरन् दही पहले भी दूध में विद्यमान था। दही की उत्पत्ति उसके पूर्व के अव्यक्त रूप का प्राकट्यमात्र है।

यद्यपि नैयायिक इस बात को मानते हैं कि कारण और कार्य में नित्य सम्बन्ध है, परन्तु वे दोनों एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। उनके अनुसार उत्पत्ति से पूर्व कार्य का कारण में 'प्रागभाव' होता है और नाश के पश्चात् उसका 'ध्वंसभाव' हो जाता है। इस प्रकार यदि नैयायिकों का असत्कार्यवाद मान लिया जाय तो हमें यह मानना पड़ेगा कि सृष्टि का अभाव उत्पत्ति से पूर्व भी था और प्रलय के पश्चात् भी रहेगा। किन्तु यदि न्याय उपादान कारण और कार्य का नित्य सम्बन्ध मानता है तो फिर कार्याभाव कैसे संभव हो सकता है?

(पृष्ठ २९ का शेष)

निष्कर्ष

उपरोक्त दृष्टियों के बारे में विश्लेषण करने के पश्चात् देखा, माना कि दृष्टि का महत्व बहुत अधिक है। ईश्वर ने मानव को सर्वश्रेष्ठ जीव बताया है वही मानव के मन का प्रतिबिम्ब आँखों में परिलक्षित होता है उदाहरण स्वरूप हम कह सकते हैं कि जिसका मन सुन्दर नहीं है अर्थात् दुर्गुणों का आधार उसी का ही प्रतिबिम्ब उसके आँखों में दिखाई देता है जिसका मन सुन्दर या विचार सुन्दर हैं उसके मन का प्रतिबिम्ब भी आँखों में परि-लक्षित होता है।

इसलिए जीव जगत में आँखों का एक महान क्षेत्र है इन आँखों की महान शक्ति को प्राप्त करने का एक ही मार्ग है दृष्टि का अभ्यास। ●

सांख्यकारिका इस असत्कार्यवाद का खण्डन करके सत्कार्यवाद की स्थापना करती है, जिसे योग-दर्शन भी ज्यों का त्यों स्वीकार करता है। कारिका इस प्रकार है—

असदकरणादुपादान ग्रहणात्,
सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात्,
कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥

इस कारिका में कारण के द्वारा कार्य को व्यक्त रूप देनेसे पूर्व कार्य को सत् सिद्ध करने के लिए पाँच युक्तियाँ दी गई हैं—

(१) असदकरणात्—जो असत् है उसे अस्तित्व में लाना किसी के लिए भी असंभव है। यदि असत् को सत् बनाना संभव होता तो वन्ध्यापुत्र तथा आकाशकुसुम का अस्तित्व भी संभव हो जाता, किन्तु यह सर्वथा असंभव है। अतः यह मानना पड़ेगा कि यदि कार्य का पूर्व में अभाव था तो वर्तमान में उसका भाव नहीं हो सकता। जो असत् है वह सत् किसी भी काल में नहीं हो सकता। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है—

नाऽसतो विद्यते भावः,
नाऽभावो विद्यते सतः ।

अर्थात् असत् का कभी भाव नहीं होता और सत् का कभी अभाव नहीं होता।

(२) उपादान ग्रहणात्—उपादान के ग्रहण से भी। कार्य (घट) का सम्बन्ध अपने उपादान कारण (मिट्टी) से होता है। कोई भी सम्बन्ध दो सत् वस्तुओं में ही हो सकता है। सत् और असत् में कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि किसी कार्य को उसकी उत्पत्ति से पूर्व कारण में असत् मान लिया जाय तो कार्य और कारण में कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता। ऐसी दशा में कोई भी कार्य किसी भी कारण से उत्पन्न हो सकता है। दही-दूध में सत् रहता है, इसीलिए दही का इच्छुक दूध को ग्रहण करता है। यदि कार्य अपने कारण में पहले से ही विद्यमान न रहता तो दही चाहने वाला मनुष्य जल लेकर भी उससे दही बना लेता।

(३) सर्वसंभवाभावात्—कार्य और कारण में सम्बन्ध न मानने पर सभी कार्य संभव हो जायेंगे। किन्तु यह अनुभव के विरुद्ध है।

(४) शक्तस्य शक्यकरणात्—यदि कारण और कार्य में नित्य सम्बन्ध न मानकर यह मान लिया जाय कि कारण में एक ऐसी शक्ति रहती है जो कार्य को उत्पन्न कर देती है (क्योंकि कारण में शक्ति की उपस्थिति का अनुमान कार्य की उत्पत्ति से होता है), तो यह मानना ठीक नहीं है। शक्त शक्य को ही उत्पन्न कर सकता है, अन्यथा प्रत्येक कारण प्रत्येक कार्य को उत्पन्न कर सकता है।

(५) कारणभावात्—कार्य कारणात्मक होता है, कारण से भिन्न नहीं होता।

यदि तेल उत्पत्ति से पूर्व असत् होता तो तिलसे न निकलकर रेत से भी निकल सकता था। कार्य और कारण में कुछ न कुछ संबंध अवश्य मानना पड़ेगा। यदि कार्य और कारण को एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न मानेंगे, तो 'कार्य-कारण-सम्बन्ध' नामक धारणा ही समाप्त हो जायगी। अतः उत्पत्ति से पूर्व किसी न किसी रूप में कार्य का अस्तित्व मानना पड़ेगा।

बृहदारण्यक उपनिषद के भाष्य में श्री शङ्कराचार्य ने सत्कार्यवाद का बड़ा अच्छा निरूपण किया है—"जब कारण एक कार्य को उत्पन्न करता है, तब वह दूसरे कार्य का तिरोधान कर देता है। एक कारण में अनेक

कार्य अव्यक्त रूप में रहते हैं। उनमें से एक की ही अभिव्यक्ति एक समय में हो पाती है, शेष का रूप तिरोहित रहता है। एक कार्य के नष्ट हो जाने पर कारण का नाश नहीं होता। पिण्ड-कार्य के नष्ट हो जाने पर मिट्टी अर्थात् कारण घट के रूप में प्रतीत होती है। अभिव्यक्त होना ही कार्य की उत्पत्ति है। अभिव्यक्ति का अर्थ है ज्ञान का विषय हो जाना। अविद्यमान घड़ा सूर्य के उदय होने पर भी नहीं दिखलायी दे सकता। इसी प्रकार असत् कार्य की कभी प्रतीति नहीं हो सकती। जब तक मिट्टी की अभिव्यक्ति नहीं होती, तब तक मिट्टी के अवयव घटादि के आकार में रहते हैं। अतः उत्पत्ति से पूर्व घट विद्यमान होता है, केवल उसके स्वरूप पर आवरण चढ़ा रहता है, ऐसा मानना चाहिए।

कार्य का आवरण करने वाला दूसरा कार्य होता है। एक कारण के अनेक कार्य हो सकते हैं। इनमें से एक समय में एक को छोड़कर शेष सभी कार्य अव्यक्त रूप में रहते हैं। जो कार्य अभिव्यक्त रहता है वह अन्य कार्यों के आवरण का हेतु रहता है। एक ही धातुपिण्ड से अनेक मूर्तियाँ बनायी जा सकती हैं। परन्तु एक समय में एक ही मूर्ति अभिव्यक्त की जा सकती है। इसी प्रकार कोई भी कारण एक समय में एक ही कार्य अभिव्यक्त कर सकता है।

संसार के सभी पदार्थ त्रिगुणमय हैं। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण से रहित हो। जब सारा जड़ जगत् इन्हीं तीनों गुणों से बना है तो इसके मूल कारण में भी इन तीनों गुणों का अस्तित्व अवश्य होना चाहिए। वह मूल कारण प्रकृति है। जिस प्रकार तीन धागों के संयोग से एक रस्सी बनती है उसी प्रकार तीनों गुणों के संयोग से प्रकृति की एकता निर्मित होती है। सांख्य तथा योग-दर्शन गुण और गुणी में भेद नहीं मानते। गुण तथा गुणी में तादात्म्य सम्बन्ध होता है। प्रत्येक गुण अनन्त है गुणों के अनन्त होने के कारण प्रकृति भी असीम है।

प्रलयावस्था में अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व प्रकृति के तीनों गुण साम्यावस्था में रहते हैं। पुरुष के सान्निध्य से यह साम्यावस्था भंग हो जाती है और गुणों में वैषम्य उत्पन्न हो जाता है। यह विषमता ही जगत के मूल में विद्यमान है विषमता के कारण सृष्टि रूपी कार्य उत्पन्न होता है। यहाँ यह शंका हो सकती है कि पुरुष तो निष्क्रिय है वह भला प्रकृति को गति कैसे प्रदान कर सकता है? इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार चुम्बक बिना स्वयं गतिमान हुए ही लोहे में गति उत्पन्न कर देता है, उसी प्रकार पुरुष की सन्निधिमात्र से प्रकृति गतिशील हो जाती है। प्रकृति की सारी परिणमन क्रिया पुरुष को मुक्त करने के लिए ही होती है। जिस प्रकार गाय के थन से दूध बछड़े के लिये प्रस्रवित होता है।

जड़ जगत् के जितने भी पदार्थ हैं वे सभी प्रकृति के परिणाम हैं, अतः वे अपनी उत्पत्ति से पूर्व प्रकृति में विद्यमान थे। सृष्टि में कोई भी वस्तु सर्वथा नवीन नहीं है। कारण में जो अप्रकट रहता है वही कार्य अथवा उत्पत्ति में प्रकट होता है। जिस क्रम से प्रकृति सृष्टि करती है उसके उल्टे क्रम से संसार को अपने में लय कर लेती है जिसे प्रलय कहते हैं। इस प्रकार सांख्य और योग सृष्टि तथा प्रलय दोनों का समर्थन करते हैं। प्रलय की अवस्था में भी प्रकृति क्रियाहीन नहीं रहती। उस समय उसमें सजातीय परिणाम होता है। परिणाम दो प्रकार के होते हैं—

(१) सजातीय (२) विजातीय

पानी से बर्फ का बनना सजातीय परिणाम है,

क्योंकि पानी और वर्फ के मुख्य गुणों में भेद नहीं होता। किन्तु मिट्टी, वायु आदि से जो वनस्पति बनती है वह विजातीय परिणाम है। अतः प्रकृति का सजातीय परिणाम प्रलय है और उसका विजातीय परिणाम सृष्टि है। सृष्टि का क्रम इस प्रकार है :—

जब पुरुष के सान्निध्य से प्रकृति की साम्यावस्था भंग होती है तब उसमें विकार उत्पन्न होता है। प्रकृति का प्रथम विकार महत्तत्व है जिसे बुद्धि भी कहते हैं। बुद्धि स्मृति के संस्कारों का अधिष्ठान है। निश्चय करना बुद्धि के गुण हैं। ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य, ऐश्वर्य, आदि बुद्धि के गुण हैं। अणिमा, लघिमा, गरिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, और ईशित्व—ये आठ ऐश्वर्य बुद्धि की ही विशेषताएँ हैं। महत्तत्व से अहंकार उत्पन्न होता है। महत्तत्व तथा अहंकार सार्वभौम तत्व होते हुए भी प्रत्येक मनुष्य में इन दोनों तत्वों में विभिन्नता पाई जाती है। अहंकार तत्व की विभिन्नता के कारण ही मनुष्यों में भी विभिन्नता पायी जाती है।

अहंकार से ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। सांख्य दर्शन में मन के महत्व में तथा बुद्धि एवं अहंकार के महत्व में बड़ा अन्तर है। मन केवल विकृति या विकार है, किन्तु बुद्धि तथा अहंकार प्रकृति और विकृति दोनों हैं। वेदान्त में मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को अन्तःकरण चतुष्टय नाम दिया गया है, किन्तु योगदर्शन के महत् को ही चित्त कहा जाता है। तामस अहंकार से तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है और सात्विक अहंकार से इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। पंच तन्मात्राओं से पंच भूतों की उत्पत्ति होती है। स्थूल भूतों का सूक्ष्म तन्मात्राएँ हैं। शब्द तन्मात्र से आकाश की, तथा स्पर्श तन्मात्र से वायु की, शब्द तन्मात्र, स्पर्श-तन्मात्र तथा रूपतन्मात्र से अग्नि की, इन तीनों तन्मात्राओं तथा रसतन्मात्र से जल की, एवं पाँचों तन्मात्राओं से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। आइन्स्टीन के सापेक्षवाद की भाँति सांख्यदर्शन देश और काल को परिच्छिन्न मानता है तथा इन दोनों की उत्पत्ति आकाश से मानता है।

प्रकृति के परिणाम को अथवा सृष्टि के विकास को निम्नलिखित तालिका द्वारा भी स्पष्ट किया जाता है :—

१—प्रकृति या प्रधान
↓
२— महत्
↓
३— अहंकार

४ मन	५-९ पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ	१०-१४ पाँच कर्मेन्द्रियाँ	१५-१९ पाँच तन्मात्राएँ	२०-२४ पाँच भूत

इस प्रकार सांख्य-योग के अनुसार तत्त्वों की संख्या २४ है। इनमें पुरुष को भी सम्मिलित करने पर तत्त्वों की संख्या २५ हो जाती है। इन सभी को तत्वज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है।

पत्रम्-पुष्पम्-फलम्-तोयम्

दीर्घ आयु के कुछ साधन

यज्ञ से दीर्घायु

प्राचीन काल में रोगों को दूर करने का यज्ञ एक उत्तम साधन था। यज्ञ में रोग-नाशक औषधियाँ डाली जाती थीं और वे औषधियाँ सूक्ष्म होकर श्वास द्वारा लोगों के शरीर में प्रविष्ट होकर रोगाणुओं को नष्ट करती थीं। इससे मनुष्य स्वस्थ रह कर दीर्घायु प्राप्त करते थे। वेदों में इसीलिए कहा है।

यः हविष्कृति आहुति दाशात् सः विश्वमायुर्व्यश्नवत्।

अर्थात्—जो यज्ञ में हवनीय आहुति देता है, वह दीर्घायुवाला होता है।

प्रयक्षे दीर्घं आयुः प्रसस्ति।

अर्थात्—यज्ञ करने वाले को दीर्घायु मिलती है।

मनः शान्ति से दीर्घायु

मन के अशान्त रहने से इन्द्रियों में भी अशान्ति रहती है, परिणामस्वरूप मनुष्य भी अस्वस्थ रहता है। मन में यदि चिन्ता हो तो मनुष्य शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। मन और हृदय की शान्ति आयु को बढ़ाती है।

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च'''तत्र माममृते कृधि।

अर्थात्—जहाँ मन में आनन्द और प्रसन्नता रहती है वहाँ मुझे अमर करो।

यत् मनः दूरकं जगाम, तत् जीवसे आवर्तयामि।

अर्थात्—जो मन दूर जाकर भटकता है, उसे दीर्घजीवन के लिए लौटा लाता हूँ।

ते मनः जीवातवे कृधि न मृत्यवे।

अर्थात्—तेरा मन दीर्घजीवन के लिए प्रदान करता हूँ, मृत्यु के लिए नहीं। मन में सर्वदा आरोग्य और दीर्घजीवन के विचार रहने चाहिए, निराशा के नहीं। इस प्रकार मन में आशा, आनन्द और शान्ति रहने से आयु दीर्घ होती है।

सूर्य सेवन से दीर्घायु

सूर्य में अत्यधिक जीवनशक्ति होने के कारण उसके सेवन से दीर्घायु प्राप्त होती है। सूर्य स्नान उत्तम उपाय है।

हृद्रोग मम सूर्य हरिमाणं च नाशय।

अर्थात्—सूर्य स्नान से हृदय के रोग और पीलिया आदि रोग नष्ट हो जाते हैं।

सविता नः दीर्घं आयु रासतां।

अर्थात्—सविता हमारी आयु दीर्घ करे।

सूर्येण सह आयुः प्रतिरन्ते।

अर्थात्—सूर्य प्रकाश के सेवन से आयु बढ़ती है।

चन्द्रमा से दीर्घायु प्राप्ति

'चन्द्रमाः मनसो जातः' के अनुसार चन्द्रमा परमात्मा के मनरूपी अंश से उत्पन्न हुआ है, अतः चन्द्रमा मानव मन की शान्ति का कारण होता है। इस प्रकार चन्द्रमा मन में शान्ति फैलाकर दीर्घायु में सहायक होता है। अतः कहा है—

चन्द्रमास्तिरते दीर्घआयु।

अर्थात्—चन्द्रमा आयु दीर्घ करता है।

चन्द्रेण आयुः शतमानं।

अर्थात्—चन्द्र से आयु सौ वर्ष की होती है। अतः चान्दनी का भी सेवन करना चाहिए।

मृत्यु को जीतने का उपाय

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति।
विषैर्विमुच्यते योगी व्यातिमृत्युजरादिभिः॥

तालु के ऊपर छिद्र में जिह्वा प्रवेश करके एक घड़ी मात्र खेचरी मुद्रा में स्थिर रहे तो योगी को सर्प, बिच्छू आदि का विष न लगे औ बुढ़ापा, रोग, मृत्यु को जीतने में समर्थ होता है बलीपलित (जो बुढ़ापे में चर्म ढीला होकर सलवटें पड़ती हैं) वे भी नहीं होतीं।

आहार-बिहार की साधना

नियमित, सन्तुलित और सात्विक गुण सम्पन्न आहार और आचार की साधना भी दीर्घ आयु बढ़ाने का कारण बनती है।

जीवन-काल और उसका प्रयोग

● श्री मंजूरुल हसन

[भारतीय संस्कृति के धरातल को छूते हुए कुछ उपदेश]

जिस प्रकार पक्षियों को सुबह, उल्लू को शाम, मक्खी को शहद और गिद्ध को शव प्रिय है, उसी प्रकार मनुष्य को जीवन प्रिय है।

यद्यपि वह प्रकाशमान है, किन्तु आँखें चौंधिया नहीं जातीं। यद्यपि वह अन्धकार युक्त है, किन्तु मन उससे नहीं घबराता। यद्यपि वह मीठा है, फिर भी उससे उकताहट नहीं होती। यद्यपि वह निकृष्ट है, किन्तु मन उससे घृणा नहीं करता। फिर भी कौन है, जो उसका पीछा नहीं करता।

जीवन का उचित मूल्य आँकना सीख। यदि तू ऐसा करेगा, तो बुद्धि-स्तम्भ के निकट पहुँच जायगा।

तू मूर्खों के इस विचार को हृदयङ्गम मत कर कि जिन्दगी से बढ़कर कोई वस्तु आदरणीय नहीं है। कृत्रिम बुद्धिमान् की भाँति यह भी मत सोच कि तुझे जीवन से घृणा करनी चाहिए। केवल अपनी इन्द्रियों के लिए उससे प्रेम मत कर और न अपने निजी स्वार्थ के लिए उसकी लालसा कर। बल्कि इसलिए प्रेम कर कि वह दूसरों के कल्याण का माध्यम बने।

जीवन सोने से नहीं खरीदा जा सकता। रत्नों के ढेर उस क्षण को वापस नहीं ला सकते, जो बीत गया। इसलिए क्षण-क्षण को पुण्य में बिता। यह कदापि न कह कि "मैं जन्म ही न लेता या यदि जनमा, तो तुरन्त मर जाता!" अपने स्रष्टा से यह भी मत पूछ कि "यदि मुझे जन्म न देता, तो तेरी क्या हानि होती? और पाप कैसे होता?" पुण्य करना तेरे अधिकार में है। पुण्य का लोप ही पाप है। यदि तेरे प्रश्न को उचित समझ लिया जाय, तो भी तू प्रश्न करने की धृष्टता के कारण अपराधी ठहरता है।

यदि मछली यह जानती कि चारे में में काँटा है, तो उसे क्यों निगलती? शेर कदापि जाल में न फँसता, यदि वह जानता कि उसीको फँसाने के लिए वह बिछाया गया है। इसी प्रकार मनुष्य को कदापि जीवन से अभिरुचि न होती, यदि आत्मा भी शरीर के साथ ही नष्ट हो जाती और दयानिधि परमेश्वर उसे पैदा ही न करता। अच्छी तरह याद रख, शरीर के नष्ट होने के पश्चात् फिर तुझे जीवित होना पड़ेगा।

पिंजरे में बन्द पक्षी अपने शरीर को नहीं बेधता, फिर तू क्यों अपनी वर्तमान दशा से निकलने का व्यर्थ प्रयत्न करता है। यह जान ले कि तेरे लिए भी यही निश्चित

है। इसी पर सन्तोष कर। यद्यपि इसके मार्ग बीहड़ हैं, फिर भी सभी आशंकापूर्ण नहीं। इन्हीं के अनुसार तू अपने को बैठा ले। जहाँ आशंका दीख पड़े, वहाँ अत्यधिक आशंका का भ्रम न किया कर।

जब तू घास पर अपना बिस्तर लगाता है, तो कितना आनन्द पाता है। किन्तु जब फूलों की सेज पर आराम करता है, तो काँटों से होशियार रहना तेरा फर्ज है।

बुरे जीवन से अच्छी मृत्यु कई गुना श्रेष्ठ है। आवश्यकता यह है कि तू भला जीवन बिताने की भरपूर चेष्टा कर। जिन्दगी के दिन केवल बिताने के लिए नहीं हैं। बल्कि जो तेरे फर्ज हैं, उन्हें पूरा करने के लिए चेष्टा कर। जब तक तेरी मृत्यु की तुलना में तेरा जीवन दूसरे के लिए उपयोगी हो, उसे सुरक्षित रखना तेरा धर्म है। तू मूर्खों की भाँति यह न कह कि समय कम है। याद रख, आयु के साथ तेरी चिन्ताएँ भी कम होती जाती हैं।

अपने जीवन का बेकार भाग निकाल डाल और शेष को देख। यदि तू अपने जीवन से बचपन, स्वप्न, बीमारी और बेकार रहने का समय अलग कर देगा, तो तुझे पता चलेगा कि कितने कम दिन बचते हैं। तब यह देख कि गिनती के कितने दिन तूने ठीक-ठीक बिताये हैं? जिसने तुझे जीवन का यह प्रसाद दिया है, उसीने इसे आदरणीय बनाने के लिए क्षणिक भी बनाया है। जीवन के दीर्घकालीन होने से क्या लाभ? क्या तू चाहता है कि कुकर्म करने का तुझे अधिक अवसर मिले? बाकी रहे सत्कर्म! तो क्या जिसने तेरे जीवन-काल को सीमित कर दिया है, वह सीमित सत्कर्म से सन्तुष्ट न होगा?

बस! दुःख-मुसीबत में अधिक दिनों तक जीवित रहकर तू क्या करेगा? क्या साँस लेने, खाने-पीने और सांसारिक लीला देखने के लिये तू दीर्घकालिक जीवन चाहता है? यह तो ऐसे कार्य हैं, जो अब तक बार-बार हो चुके हैं। निरन्तर एक ही काम से मन ऊब जाता है। क्या यह व्यर्थ नहीं है?

क्या तू यह नहीं चाहता कि अपनी बुद्धि और पुण्य को उन्नत करे? खेद है कि तुझे बहुत-सी बातें जानने की आवश्यकता है। कौन तुझे सब कुछ सिखाये? जो थोड़ा समय तेरे पास है, उसे भी तू व्यर्थ गँवा रहा है। तब यह शिकायत अत्यन्त अनुचित है कि तेरी आयु के दिन गिने-गिनाये हैं।

पूर्ण ज्ञान न होने पर खेद न कर! वह तो तेरे साथ ही समाधि के भीतर जायगा। बस, ईमानदार बन, तू परलोक में बुद्धिमान् कहलायेगा। कौए से यह मत कह कि तुझे उससे सात-गुनी अधिक आयु मिली है। न हिरन के बच्चे से सम्बोधन कर कि तुझे ऐसी आँखें प्रदान हुई हैं, जो अपनी सन्तान की कई पीढ़ियों को देख सकता है। क्या उनका जीवन दोषपूर्ण है? क्या वे इस योग्य हैं कि तू अपने जीवन की उनके साथ तुलना करे? क्या वे दुष्ट, निर्दयी और कृतघ्न हैं? उनसे शिक्षा ग्रहण कर। क्या निर्दोषिता और चलन की सादगी लम्बे जीवन का कारण नहीं? यदि तू अपना जीवन बिताने की इन पशुओं से उत्तम कोई विधि जानता है, तो इससे भी थोड़ा जीवन तेरे लिए काफी है।

कितना आश्चर्य है कि मनुष्य यह जानते हुए भी उसका अत्याचार उसके क्षणिक जीवन तक ही सीमित है, वह संसार को अपना गुलाम बनाना चाहता है। यदि कहीं जीवन अनादि होता, तो न जाने वह क्या क्या न करता!

तुझे जीवन के पर्याप्त दिन मिले हैं, किन्तु खेद है कि तू उनका मूल्य नहीं आँकता, व्यर्थ ही उनको बरबाद करता है। तू उन्हें इस प्रकार व्यय करता है, मानो वे अत्यधिक हैं। इस पर भी कुढ़ता है कि वे संचित कोष की तरह तुझे वापस क्यों नहीं मिल जाते! फिर भी यदि जीवन के छोटे होने की शिकायत करे, तो वह तनिक भी उचित नहीं।

याद रख, धन-दौलत की अधिकता सम्पन्नता का प्रमाण नहीं, मितव्ययिता ही सच्ची अमीरी है। बुद्धिमान् आरम्भ से ही अच्छा प्रबंध तथा मितव्ययिता पर दृष्टि रखता है, किन्तु मूर्ख सदा आरम्भमात्र पर जीता है।

यह मत सोच कि धन एकत्र करलूँ, तो सुख प्राप्त होगा। जो व्यक्ति वर्तमान को अपनी असावधानी से नष्ट करता है, वह मानो उस संचित कोष को नष्ट करता है, जो उसके पास है। जिस प्रकार सैनिक को इसका ज्ञान होने के पूर्व कि बाण कहाँ से आया, उसका हृदय विध जाता है, उसी प्रकार शरीर से प्राण भी निकल जायगा, इससे पूर्व ही पता लगा कि तेरे शरीर में जीवन भी है।

तो जीवन क्या चीज है कि मनुष्य उसकी लालसा करे! श्वास के आने-जाने में क्या धरा है कि इसका लालच हो!

क्या जीवन एक स्वप्न मात्र, दुर्घटनाओं का क्रम तथा अटूट बुराइयों के पीछे भागने वाला नहीं है? इसमें आरम्भ में अज्ञान, बीच में कष्ट और अन्त में दुःख है! जिस प्रकार एक लहर दूसरी लहर को रेलती है है और दोनों पीछे से रेलने वाली लहरों के [illegible] है, उसी प्रकार मनुष्य के जीवन में एक विकार के पश्चात् दूसरा विकार आता है और वर्तमान का बड़ा विकार पिछले विकारों को निगल लेता है। हम इन विकृतियों से भयभीत रहते हैं और असम्भावित बातों और करामतों पर आशा किये बैठे रहते हैं। हमारा भय तो वैसा ही होता है, जैसा एक मूर्ख और नश्वर मनुष्य का। किन्तु आशाएँ और इच्छाएँ देवताओं के सदृश प्रिय लगती हैं।

जीवन का वह कौन-सा भाग है, जिसके स्थायित्व पर हम प्रसन्न रहें? यदि जवानी को हम पसन्द करते हैं, तो मानो विलासिता व्यर्थ कोलाहल और असावधानी को गले लगाते हैं! यदि बुढ़ापा पसन्द करते हैं, तो मानो दुर्बलता और बीमारी पसन्द करते हैं।

कहा जाता है कि वयोवृद्ध और श्वेत केशवालों का आदर-सत्कार अधिक होता है। किन्तु याद रख, उत्तम और उत्कृष्ट गुण जवानी में भी मनुष्य के आदर-सत्कार के कारण होते हैं। यदि वे विशेषताएँ न हों, तो वयोवृद्ध के मस्तिष्क से अधिक उसकी आत्मा पर झुर्रियाँ पड़ जाती हैं।

क्या वृद्धों का इस कारण अधिक आदर होता है कि वे व्यर्थ का कोलाहल पसन्द नहीं करते? किन्तु इसमें कौन-सी विशेषता है? जब जवानी बीत गयी, तो सुख और आराम से घृणा हो गयी! सच्ची बात तो यह है कि स्वयं सुख और आराम ही वृद्ध से घृणा करता है।

अतः जवानी के दिनों में सदाचार और सद्गुणों का संग्रह कर, जिससे वृद्धावस्था में भी तेरा सम्मान हो।

गुरुवर दो ऐसा वरदान

● श्री यशपाल

गुरुवर दो ऐसा वरदान
रहे सदा अविचल मन मेरा
आँधी आये या तूफान
गुरुवर दो ऐसा वरदान !

बहुत कठिन है नरतन पाना
बहुत सरल है पशु बन जाना
ऐसी शक्ति मुझे दो सद्गुरु
करूँ सतत—अवदान !

बोझ बढ़ा है इस धरती पर
घनी व्यथा है कोमल उर पर
दो ऐसी क्षमता हे स्वामी ?
लाऊँ नया विहान !

धन की आज प्रतिष्ठा भारी
पद का मनुज बना अनुरागी
करो कृपा ऐसी हे स्वामी !
मानव का हो मान !

प्रेम छलकता रहे हृदय से
प्रकटे करुणा रोम रोम से
हे प्रभु, दो आशीष कि जिससे
करूँ अमृत का पान !

तुम हो शांति प्रेम के दाता
ध्यान-योग के हो व्याख्याता
मुझे प्रेरणा दो, प्यारे सद्गुरु
मन का हो संधान !

शक्ति हमारी सुप्त पड़ी है
चेतनता भी लुप्त पड़ी है
मार्ग दिखाओ हे मेरे गुरु
पाऊँ अन्तर-ज्ञान !

मुझे चाहिए नहीं अमरता
नहीं चाहिए जग की प्रभुता
रहूँ निकट में सदा तुम्हारे
ऐसा हो—आह्वान !
गुरुवर दो ऐसा वरदान !

मृत्यु और अमरत्व

हर एक के पीछे मृत्यु का डर लगा हुआ है। परन्तु मृत्यु, दुःख, कष्ट आदि जो हैं, वे हमारे उत्तम शिक्षक हैं, इस दृष्टि से देखने से मृत्यु का महत्व ध्यान में आ सकता है। गलतियों और अशुद्धियों से बचाने की सूचना दुःखों और कष्टों से मिलती है। मृत्यु इस नश्वर जगत् की साक्षी दे रहा है और नश्वर जगत् में शाश्वत आत्मा है, यह ज्ञान मृत्यु को देखने से ही होता है। मृत्यु न होगी, तो जन्म भी नहीं होगा। पुत्र जन्म का उत्सव देखना है, तो पूर्वजों की मृत्यु अवश्य सहन करनी चाहिए। इस प्रकार मृत्यु हमारी उन्नति में विलक्षण सहायता करती है।

सत्यं·शिवं·सुन्दरम्

हमारा ध्येय—अभ्युदय

सूर्य का उदय होता है, चन्द्र और नक्षत्र उदय को प्राप्त करते हैं, बीज से वृक्षों का उदय होता है, इस प्रकार सर्वत्र जगत में अभ्युदय ही अभ्युदय है। हर एक सजीव पदार्थ में यह शक्ति का विकास देखिये और अनुभव कीजिये, कि यह "अभ्युदय का नियम" जगत् में कैसा कार्य कर रहा है। प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओं से सूर्य चन्द्रादिकों का उदय हो रहा है, बीज से वृक्ष बढ़ रहे हैं, वीर्य बिन्दु से प्राणियों के शरीर विकास को प्राप्त हो रहे हैं, इस प्रकार सर्वत्र शक्तियों का विकास हो रहा है। यदि सम्पूर्ण सृष्टि के अन्दर शक्ति का विकास कार्य कर रहा है, तो अशक्त स्थिति में रहने से आपका कैसा कार्य चल सकता है? आपको भी उचित है, कि आप अपनी शक्ति का विकास करें और अन्यों की अपेक्षा अधिक विकसित होकर आदर्श रूप बनें। वेद भी कह रहा है कि—

उद्यानं ते पुरुष नावयानम्। अ० ८/१/६

"हे मनुष्य! उन्नत होना तेरा कर्तव्य है, अवनत होना नहीं है।" ध्यान रखो कि अभ्युदय, उन्नति, प्रगति ये ही शब्द आपके मार्गदर्शक हैं। आप अन्य हीन बातों को अपने मन में रखिये। आपके अन्दर आत्मिक बल, बुद्धि की शक्ति, मन का वीर्य इन्द्रियों की शक्तियां और शरीर की ओजस्विता कितनी बढ़ सकती है, उसकी मर्यादा अभी तक किसी ने निश्चित नहीं की है। आपके शरीर में ऐसे शक्ति के केन्द्र हैं, कि जिनका पता भी अभी तक किसी को लगा नहीं है। इससे स्पष्ट होता है, कि अपनी शक्ति के विकास का क्षेत्र आपके सामने अमर्यादित है। कोई हद नहीं है, और कोई मर्यादा नहीं है। इसलिये आपको अपनी हिम्मत बढ़ानी चाहिए और ऋषि मुनियों के निश्चित किये हुए साधन मार्ग से आगे बढ़ना चाहिये।

आप अपने आपको और अपने राष्ट्र को अन्यों की अपेक्षा, पीछे न रखने का अर्थात् आगे बढ़ाने का यत्न कीजिये। हर एक कार्य क्षेत्र में यह नियम ध्यान में धारण कीजिये, कि आपको आगे बढ़ना है और विघ्नों के साथ युद्ध करके विघ्नों को दूर भगाकर अपना धर्म मार्ग निष्कंटक करना है। जो नियम अन्यान्य कार्य क्षेत्र में है, वही अपनी शक्ति का विकास करने में भी है। इसलिये इस मर्म को कभी न भूलिये।

—दर्शनानन्द

● श्री जगदीश नारायण उपाध्याय

निष्काम कर्मयोग साधना द्वारा—

आत्मा-परमात्मा का ज्ञान

आज का समाज आत्म ज्ञान से दूर है, इसलिये अन्तर द्वन्द्व एवं विषमता के कारण, वर्ग भेद, वर्ण भेद, धर्म भेद, व राष्ट्र भेद को अधिक प्रोत्साहन मिल रहा है, किन्तु आत्म-ज्ञान होने पर यह सभी प्रकार के भेद मिट जाते हैं। इसलिए आत्म-ज्ञान की आवश्यकता पर उपनिषद्, श्रीमद्भागवत् और गीता शास्त्र सदैव बल देते रहे हैं।

महर्षि मनु का इस विषय में कथन है—

सर्वेषां मपि ज्ञानानां
आत्म ज्ञानं परंस्मृतम्।
तद हि अगत्य सर्व
विद्यानं प्राप्यते हि अमृतं ततः॥

भावार्थ—समस्त ज्ञानों में आत्म-ज्ञान ही सर्वाधिक श्रेष्ठ माना जाता है। क्योंकि अमृततत्वरूपी ब्रह्म की प्राप्ति उसी से सम्भव होती है।

यदि हम हिन्दू धर्म पर दृष्टिपात करें और सोचें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि यह प्रक्रिया कितनी महत्वपूर्ण रही है, समाज निर्माण की दिशा में अग्रसर होने के लिये इसकी कितनी आवश्यकता है।

हिन्दुओं का प्रत्येक कार्य धर्म से आरम्भ होता है और धर्म के साथ ही इसका अन्त होता है। यही कारण है कि हिन्दू धर्म के शास्त्रकारों ने मनुष्य के लिये चार पुरुषार्थ आवश्यक माने हैं। उनमें धर्म सबसे पहला है, फिर है अर्थ, काम और मोक्ष। इसका तात्पर्य यही है कि अर्थोपार्जन करो अथवा काम या मोक्षकी साधना करो पर धर्मका ध्यान अवश्य करो। अधर्म पूर्वक उपार्जित धन किसी दिन अवश्य नष्ट हो जाता है और उपार्जन करने वाले को भी धर्म से गिरा देता है। यही बात है अर्थवाद में—अर्थ का अनर्थ करने में लागू होती है। यदि धर्म का स्मरण रखते हुये किसी भी कार्य की अर्थ-व्यवस्था करें तो वह कल्याणकारी हो सकती है। अब यदि हम काम सेवन पर विचार करें तो हिन्दू-धर्म का यह तीसरा अनिवार्य पुरुषार्थ है। गृहस्थ धर्म के निर्वाह में इसकी अपेक्षा रहती ही है। किन्तु इसमें भी धर्म का स्मरण रखना हितावह रहता है। धर्मयुक्त काम सेवन वह है जो स्वकीया (पत्नी) से किया जाय, वह भी तब जब सन्तान की इच्छा हो। यदि इतना सम्भव न हो तो काम सेवन का अन्तराल अधिक होना ही चाहिए। अर्थात् वर्ष, ६ मास या तीन मास का अन्तर रहना ही चाहिये, जिससे स्त्री-पुरुष दोनों में शक्ति बनी रहे और तृप्ति भी होती रहे। यहाँ यह कह देना भी अनुचित न होगा कि परकीया (दूसरे की स्त्री) के साथ काम-सेवन सदा अवैध और अधर्म ही रहेगा। अतः इसका त्याग ही कल्याणकारी रह सकता है।

चौथा पुरुषार्थ है मोक्ष। यह प्राणी की परम लालसा का विषय है। क्योंकि सुख-दुःख की निवृत्ति इसके बिना हो नहीं सकती। मोक्ष नहीं तो अमृतत्व भी नहीं। इसके बिना जन्म-मरण के चक्र में सदा ही घूमते रहना होता है। प्रश्न उठता है कि मोक्ष क्या ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—यह तीनों जातियाँ ही इसे प्राप्ति की अधिकारिणी हैं ? आज तक हिन्दू धर्म के किसी भी शास्त्र ने ऐसी व्यवस्था नहीं दी कि शूद्र को मोक्ष-प्राप्ति का अधिकार नहीं है। अथवा उसके लिए मोक्ष का उपाय करना अधर्म है। शूद्रों में भी 'रैवाक' आदि ब्रह्म ज्ञानी हो चुके हैं, यह शास्त्रों का प्रमाण है सुख-दुःख का भोग सबके लिये आवश्यक है। क्योंकि यह संसार तो दुःख रूप है। इसीलिये इस पुरुषार्थ की व्यवस्था करते हुये, महर्षि कपिल मुनि ने अपने दर्शन का आरम्भ ही इस विषय से किया है। वे कहते हैं—

अथ त्रिविध दुःखात्यन्त निवृत्ति-रत्यन्त पुरुषार्थः।

(तीनों पुरुषार्थों की सिद्ध होने पर) 'अब जो तीन प्रकार के दुःखों के निवारणार्थ तो अत्यन्त पुरुषार्थ मोक्ष है।' उसका आरम्भ करते हैं।

इसीलिए शास्त्रकारों ने आत्मज्ञान की आवश्यकता पर बल दिया है। क्योंकि इस ज्ञान के होने पर ही यह पता चल सकता है कि जो आत्मा हमारे भीतर विद्यमान है वही आत्मा वर्ण, वर्ग, देश, सम्प्रदाय व भाषा भेद से परे सभी प्राणियों में विद्यमान है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने इसीलिए इसके प्राप्त होने का निम्न उपाय बताया है—

इज्याऽचार दमो हिंसा
दान स्वाध्याय कर्मणाम्।
अयं तु परमो धर्मो यद
योगेन आत्म-दर्शनम्॥

अर्थात्—यज्ञ, आचार, दम, अहिंसा, दान, स्वाध्याय आदि कर्म है। परन्तु निष्काम कर्मयोग की साधना द्वारा आत्मदर्शन करना परम उत्तम (परमात्म) धर्म है।

हमने अपने पिछले लेखों में 'सद्गुरु द्वारा दिये गये ज्ञान' के आधार पर; लिखकर समय और परिस्थितियों को देखते हुये, यदि आप धर्म के सम्बन्ध में विचार कर देखें, तो अन्तिम निष्कर्ष पूर्ण बात का यही निकलता है कि धर्मसे वेष्टित चारों पुरुषार्थ करते हुये, हिन्दू धर्म के आचार संहिता देने वाले मनु एवं याज्ञवल्क्य के कथनानुसार—धर्म के अन्य बाह्य कर्मों के सम्पादन के साथ-साथ निष्काम कर्मयोग की साधना द्वारा,(अमरत्व) प्रदान करने वाला—आत्मा परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेना ही परमोत्तम धर्म है। इसे ही वास्तविक हिन्दू-धर्म के रूप में मानना सर्वथा उचित व न्याय संगत है। क्योंकि ? आज के इस वैज्ञानिक युग में, ज्ञान-विज्ञान से युक्त धर्म का यह अध्यात्मवादी सिद्धान्त सभी धर्मों एवं पन्थों के मानने योग्य है यही यथार्थतः मानवतावादी, न्याय पूर्ण, सर्वोत्तम धर्म है।

निष्काम कर्मयोग के साधन द्वारा आत्मा-परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करना, एक ऐसा साधन है जिससे किसी को वंचित नहीं किया जा सकता। चाहे किसी भी पंथ या धर्म का मानने वाला क्यों न हो,इसमें कौन किसे रोक सकता है ! यह तो हृदय का विषय है। भले ही कोई चाहे जिस वर्ग, वर्ण, धर्म एवं राष्ट्र का व्यक्ति हो, अपने घर के किसी एकान्त में जाकर आत्म-ध्यान करने लगे, तो उसको इस साधना का फल अवश्य मिलेगा ही। यह

आत्मा समस्त धर्मों का, समस्त व्यवहारों का आश्रय है, वह चाहे किसी भी पन्थ या धर्म के मानने वाले का शरीर हो। शास्त्र का वचन है—"सोऽयमात्मा सर्वेषां धर्माणां आश्रयः द्वन्द्वमयोऽयं संसारः।" यह आत्मा सभी धर्मों का आश्रय है, यह संसार द्वन्द्वमय इसीलिए है।

इस धर्म को मानने न मानने वाले के मन में जो भाव उपस्थित होता है, उसका मुख्य कारण अधिकारी भेद होता है "अधिकारी भेदाद् धर्म भेद:।" यह महाभारत का वचन है। महाभारतमें धर्म भेद के अन्य कारण भी कहे हैं जैसे देश, काल और निमित्त। निमित्त भी धर्म भेद का कारण बन जाता है।

एक मनुष्य के लिए जो निमित्त धर्म होता है, दूसरों के लिए वही अधर्म बन जाता है। पात्र और उनके कर्म-विशेष से भी धर्म में भेद दिखाई देता है। किसी देश या स्थान की मौसम और भौगोलिक स्थिति पर भी धर्म में भेद उत्पन्न हो जाता है। इसी तरह काल व परिस्थितियों के अनुसार भी धर्म में भेद आ जाता है। यह इसलिए होता है कि धर्म का जो बाह्य रूप है वह संसारी है, आत्मा से उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं। अतएव जिस धर्म से आत्मा का विकास हो, उसी धर्म का पालन करना चाहिए। यह सब गुण इस साधन धर्म में विद्यमान है।

इस विषयमें प्रायः संसार के सभी विद्वानों का एवं साधकों का एकमत है कि सत् का ज्ञान तभी हो सकता है, जबकि उसके पहले असत् का अनुभव किया जाय। बिना अन्धकार में गये प्रकाश का ज्ञान कैसे किया जा सकता है? सत्य का ज्ञान तभी होता है जब असत्य का अनुभव हो जाता है। इसलिए शास्त्र का कथन है कि "असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समाचरेत।" अर्थात् प्रथम असत्य का अनुभव करे, जिससे कि उसके दोषों का ज्ञान हो जाय। जब वैसा ज्ञान हो जायेगा, तब स्वतः ही उसके प्रति अरुचि होने लगेगी और तब मनुष्य सत्य ज्ञान के ही समाचरण की ओर बढ़ने लगेगा।

इससे ही पता चलता है कि शरीर और आत्मा में भेद है या नहीं? अमुक व्यक्ति श्रेष्ठ आचरण करने वाला है या नहीं? सगुण क्या है, निर्गुण क्या है? आत्मा क्या है? ब्रह्म क्या है? इस सबका उत्तर सत्य असत्यके प्रत्यक्ष अनुभव से ही हो सकता है।

आत्म-समर्पण भाव से क्रियायोग द्वारा, धारणा और ध्यान करना ही इस आत्म-ज्ञान का आरम्भिक साधन है। किन्तु निराकार के उपासकों का कथन है कि प्रतिमा और प्रतीक की पूजा निरर्थक है,क्योंकि मूर्ति भगवान नहीं हो सकता। पर इतना तो है कि मूर्ति रूप में की जाने वाली प्रतीक पूजा भगवान में चित्त को निमग्न करने वाली उत्प्रेरक तो तब हो जाती है जब भगवान का ध्यान करने बैठें। ध्यान करने के लिए कोई आकार तो होनी चाहिए, क्योंकि बिना किसी आधार या आकार के ध्यान करना बड़ा कठिन रहता है। इसीलिए शास्त्रों में आया है "तत्श्रूयते अनाधारा धारणा न उपपद्यते।" केवल सुनने या नाम लेने मात्रसे धारणाकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसके लिए कोई रूप चाहिए कोई प्रतिमा चाहिए जिसका ध्यान किया जाय। इसका एकमात्र साधन है, धारणा और ध्यान। पहले सगुण रूप का ज्ञान होने पर, धीरे-धीरे गुणों का त्याग करने से निर्गुण रूप का अनुभव हो सकता है, इसके द्वारा समाधि-पर्यन्त पहुँचा जा सकता है। सगुण ब्रह्म या सगुण ईश्वर से 'ब्रह्म प्रतीक' की

चली हुई उपासना उपनिषदों में श्रीमद्भगवत्गीता एवं पातंजल योग-दर्शन में बतलाई गई है। उदाहरणार्थ तैत्तिरीय उपनिषद की भृगुवल्ली में वरुण ने भृगु को पहले यही उपदेश दिया है कि अन्न ही ब्रह्म है, फिर क्रम से प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द इन ब्रह्म रूपों का ज्ञान उसे करा दिया (तैत्ति० ३, २-६), (गीता १८/२३) (पा० यो० पा० १/२२, २६)।

ब्रह्म या ईश्वर के अलावा सतोगुणी, जितेन्द्रिय, ब्रह्मज्ञानी, वीतरागी, सिद्ध-पुरुषों एवं देवतादि पद को प्राप्त अवतारी महापुरुषों के भी प्रतिमा व प्रतीकको अपनी अभिरुचि के अनुसार या इष्टदेव या सद्गुरुके रूप में आत्म-समर्पण भाव से स्वीकार कर इन्हें ध्यान व धारणा का ध्येय बनाया जा सकता है, क्योंकि ये सब महापुरुष परब्रह्म परमात्मा के तद्रूप होते हैं। पूर्व जन्मों के संस्कार वश किसी परिस्थिति से उत्पन्न होकर ये सभी महापुरुष अन्तिम शक्ति-सम्पन्न महामाया मां काली की इच्छा से भूत-भावन भगवान शिव के प्रेमी व भक्त साधकों को आत्म-ज्ञान कराने की प्रेरणा और दिव्य प्रकाश प्रदान किया करते हैं। साधक ने इस बात का स्वयं अनुभव किया है और हमारे इस अनुभव की पुष्टि (पा० यो० सूत्र १/३७-३९) में भी की गई है।

यदि हम यथार्थ में मानवतावादी दृष्टिकोण से विचार करके देखें तो हमारा यह धर्म आत्म सुख का सबसे अच्छा साधन है। इसीलिए धर्म की विवेचना करते हुए महर्षि मनु ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है। जिसका परिणाम दुःख कारक होता है, उस धर्म को छोड़ देना चाहिए। [मनु० १७६]। इसके अलावा नैतिक मूल्यों पर आधारित यह धर्म सभी के व्यवहार में लाने योग्य है तथा वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना से युक्त रहता है और सम्पूर्ण मानव जाति को एक सूत्र में जोड़ने वाला है। महाभारत में धर्म-अधर्म की विवेचना करते हुए भीष्म और उसके पूर्व कर्ण पर्व में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है—

धारणाद्धर्म मित्याहु:
धर्मो धारयते प्रजा:।
यस्याद्धारण संयुक्त स
धर्म इति निश्चय: ॥

"धर्म शब्द धृ [धारण करना] धातु से बना है। धर्म से ही सब प्रजा बँधी हुई है। यह निश्चय किया गया है कि जिससे [सब प्रजा] का धारण होता है वही धर्म है।" [महा भा० कर्ण पर्व ६९, ५९]। यदि नैतिक मूल्यों पर आधारित धर्म छूट जाय तो समझ लेना चाहिए कि समाज के सारे बन्धन भी टूट गये और यदि समाज के बन्धन टूटे, तो आकर्षण शक्ति के बिना आकाश में सूर्यादि ग्रह मालाओं की जो दशा होती है अथवा समुद्र में मल्लाहों के बिना नाव की जो दशा होती है, ठीक वही दशा समाज की हो जाती है। धर्म समाज रूपी माला को जोड़ने वाला है। कोई भी माला तभी शोभा देती है, जब उसके सभी दाने साथ-साथ मिलकर सटे हुए रहते हैं, एक सूत्र में पिरोये होते हैं। यदि उनमें से कोई दाना टूटकर गिर जाय तो माला अधूरी प्रतीत होती है। वह न कण्ठ में अच्छी लगती है, न अनुष्ठान कार्य में ही प्रयुक्त की जा सकती है। यह धर्म अनेक सम्प्रदायों, पन्थों एवं मतमतान्तर में वे समाज को एक सूत्र में बाँधकर रखने वाला, भेद भाव से रहित सहिष्णु धर्म है।

इसीलिए मानव समाज की शोचनीय

अवस्था में पड़े समाज को नाश से बचाने के लिए महर्षि व्यासजी ने कई स्थानों पर कहा है, अर्थ या द्रव्य पाने की इच्छा होते हुये भी "धर्म के द्वारा" अर्थात् समाज की रचना को न बिगाड़ते हुये उसे प्राप्त करो, और यदि काम आदि वासनाओं की तृप्ति करना हो तो वह भी "धर्म से हो" करो।

यदि हम अपने प्राचीन इतिहास को उठाकर देखें तो, नैतिक मूल्यों पर आधारित धर्म से रहित अर्थ व काम के प्रति विशेष लिप्सा ही समाज में सारे झगड़े की जड़ रही है। इसीलिए, महर्षि व्यास ने महाभारत के अन्त में कहा है कि—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोतिमे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते।।

ओ! भुजा उठाकर मैं चिल्ला रहा हूँ, परन्तु कोई भी नहीं सुनता। धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति होती है। इसलिए इस धर्म का आचरण तुम क्यों नहीं करते? अब इससे पाठकों के ध्यान में यह बात अच्छी तरह जम जायगी कि महाभारत को जिस धर्म-दृष्टि से पाँचवा वेद अथवा 'धर्म संहिता' मानते हैं, उस 'धर्म संहिता' शब्द में 'धर्म' शब्द का मुख्य अर्थ क्या है। यही कारण है कि पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा दोनों पारलौकिक अर्थ के प्रतिपादक ग्रन्थों "नारायण नमस्कृत्य" इन प्रतीक शब्दों का प्रयोग किया गया है।

अनुभव के आधार पर यदि आप विचार करके देखें तो धर्म सम्बन्धी, न्याय सम्बन्धी, नीति सम्बन्धी सारे दोषों की जड़ त्रिगुणात्मिका माया है। अविद्या अथवा अविवेक के कारण ही मनुष्य अपनी आत्मा को न मानकर अपने शरीर को ही महत्व प्रदान करने लगता है। जड़ और चेतन का ज्ञान वह समझ नहीं पाता, केवल दृश्य प्रकृति से ही अपना सम्बन्ध जोड़कर तत्व ज्ञान से वंचित रह जाता है। इसके कारण जन्म-जन्मान्तर तक जन्म-मरण के चक्कर में पड़कर सुख-दुःख रूपी भोगों को वह भोगा करता है। पुरुष और प्रकृति के अभेद ज्ञान के सहारे जो कर्म होता है उसीसे क्लेश परक कर्माशय का सृजन होता है। विवेक ख्याति को ध्यान में रखकर जो कर्म किया जाता है उसी का नाम अक्लिष्ट कर्म है। शुभ-अशुभ तथा शुभ और अशुभ दोनों मिश्रित ये सारे ही सांसारिक कर्म हैं। किन्तु विवेक ख्याति मूलक कर्म से संसार का बन्धन क्रमशः शिथिल हो जाता है और सभी कृष्ण-शुक्ल और मिश्रित कर्मों का अन्त हो जाता है।

सृष्टि में अनादि काल से सद्गुरु द्वारा कहे हुये वचन को सुनकर, एक मात्र परब्रह्म परमात्मा को मानकर, निष्काम कर्मयोग साधन का अभ्यास करते चले आये गृहीत विषयक समाधि या (अस्मितानुगत समाधि) के निर्विचारनुगत अवस्था तक पहुंचे, भव प्रत्यय वाले विदेह और प्रकृतिलय योगभ्रष्ट योगियों को शुभ-अशुभ मिश्रित या शुक्ल-कृष्ण और मिश्रित अविशेष-विशेष वृत्ति वाले विरागुण-अविरागुण, अक्लिष्ट-क्लिष्ट वासना और कर्माशय के साथ विद्यमान रहते आने का स्मृत ज्ञान! उन्हें जन्म-जन्मान्तर तक होता रहा है।

वंशानुगत या गुरुकुल परम्परा के अनुसार जन्म-जन्मान्तर से चले आ रहे, इसी (अभिन्न-मिश्रित) विपर्य ज्ञान से युक्त पूर्ववर्ती प्रकृति या परम्परागत स्वभाव के कारण ही; मूढ़ पुरुषों की बात ही क्या—विवेकशील विद्वान, भावना प्रधान,-कवि, लेखक, साहित्यकार, एवं चिन्तक, विचारक, दार्शनिक

विशेष तथा आर्त, जिज्ञासु, ज्ञानी, भगवान के भक्त जो पूर्व योगी रह चुके है और जिसके क्लेश प्रसुप्त (कार्य न करने वाले) तनु (हीन शक्ति वाले) विच्छिन्न (किसी क्लेश के उदार होने पर दब जाने वाला क्लेश) उदार (जिस समय जिस क्लेश के कार्य की प्रधानता हो) उस अवस्था में वे भी इस मरण भय रूप क्लेश से ग्रसित रहते हैं। तथा कभी अति भावुक, कभी अभावुक होकर उग्र और हीन भावना के कारण—परिणाम ताप, संस्कार, दुःख सहते रहते है।

युगों-युगों से ऐसे महापुरुषों के भीतर (अभिन्न मिश्रित) विपर्यज्ञान युक्त कर्माशय के रहते चले आने का कारण महा-मनीषी महान चिन्तक महर्षि पतंजलि ने अपने अनुभव के आधार पर पातञ्जल योग-दर्शन के सूत्र में—"विपर्ययो मिथ्या ज्ञान मतद्रूप प्रतिष्ठम्।" (पा० यो० १/८) में दिया है किसी वस्तु के असली स्वरूप को न समझकर उसे दूसरी ही वस्तु समझ लेना—यह विपरीत ज्ञान ही विपर्य वृत्ति है—जैसे सीप में चाँदी की प्रतीति।

पाँच क्लेशों में से प्रसुप्तादि चार क्लेशों को अविद्या क्लेश के रूप में नहीं माना है। तथा उसी प्रकार उसके आगे। यो० दर्शन पा० ४ सूत्र २९-३०। विपर्य वृत्ति से तीनों प्रकार के कर्म संस्कार समूल नष्ट हो जाते हैं ऐसा प्रमाण वृत्ति से इसे नाश होने की बात को स्वीकार किया है। इसके सिवा योग-शास्त्रके मतानुसार विपर्यज्ञान चित्त की वृत्ति है। किन्तु अविद्या चित्तवृत्ति नहीं मानी गयी है केवल प्रमाण वृत्ति से इसे नाश होने की बात को स्वीकार किया है। इसके सिवा योग शास्त्र के मतानुसार—विपर्य ज्ञान चित्त की वृत्ति है। किन्तु अविद्या चित्त वृत्ति नहीं मानी गयी है। क्योंकि विपर्य ज्ञान की वृत्ति, (पा० यो० दर्शन पाद २ सूत्र २३-२४) के मतानुसार-द्रष्टा और दृश्य के स्वरूप की उपलब्धि में हेतुभूत संयोग का कारण भी है। परन्तु विपर्य ज्ञान रखने वाले साधकों को-इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि यह धर्म रूप विपर्य वृत्ति केवल निष्काम कर्मयोग साधन द्वारा, अपने अविवेक पूर्ण अविद्या का नाश करके, पुरुष और प्रकृति के संयोग से आत्मा परमात्मा का ज्ञान करने के लिये दिया गया है। भोग-पदार्थ की इच्छा रखने वाले साधको को जिसमें अविद्या का अभी तक नाश नहीं हुआ है, उनके लिये क्लिष्ट है।

सृष्टि के अनादि काल से वंशानुगत या गुरु परम्पराओं के अनुसार, अनवरत बहती चली आ रही नदी की धारा की भाँति जाति (योनि) आयु, भोग, के फलस्वरूप भुने हुये बीज की तरह परिपाक होकर, एकाग्रता प्रदान करने वाले व्युत्थान समाधि से ऊँची अवस्था अस्मितानुगत समाधि का ज्ञान रखने वाले, आर्यों के भीतर चले आ रहे, इस गुह्य (अभिन्न मिश्रित) विपर्य ज्ञान से युक्त कर्माशय की मूल जड़;—साधक जैसे पूर्व योगियों के भीतर इड़ा (सूर्यनाड़ी) पिंगला (चन्द्रनाड़ी) के साथ अति सूक्ष्म सुष्मना प्राण संचित मूलाधार रूपी मूल प्रकृति के ऊपर स्थित स्नायुजाल या स्नायुगाँठ के भीतर "प्राणमय कोष" में अब भी स्मृति ज्ञान के रूप में विद्यमान है। —क्रमशः

—: विलय हो गया ! :—

● आचार्य डा० केशवराम शर्मा एम. ए. (हिन्दी संस्कृत) पी. एच-डी., साहित्याचार्य

धाम तंवाई के भक्तों का संरक्षक व पिता खो गया !
आज योग की महाज्योति का परम ज्योति में विलय हो गया !!

[१]

चन्द्र[1] ज्योत्स्ना[2] आज अमा[3] के
अन्धकार में लीन हो गई,
अगणित तारागण[4] की शोभा
विमल कान्ति सब होन हो गई।
सागर[5] की उठती लहरों[6] की
आशाओं का प्रलय हो गया,
आज योग की महाज्योति का
परम ज्योति में विलय हो गया ॥

[२]

योग-सिन्धु का अमृत-मन्थन
करते थे सब लिये सहारा,
अब बसुधा में भटक रहे जो
देगा उनको कौन किनारा,
सभी डोंगियाँ डगमग करतीं,
महायान आधार खो गया,
आज योग की महाज्योति का
परम ज्योति में विलय हो गया ॥

[३]

हे 'मोहन' ! अपनी लीला का
तुमने तो संवरण कर लिया,
गोपी-ग्वाल बिलखते पल-पल
जिनका था वशीकरण कर लिया।
प्रभु-वियोग गोकुल-वृन्दावन,
कुञ्ज-कुञ्ज में जहर बो गया,
आज योग की महाज्योति का
परम ज्योति में विलय हो गया ॥

[४]

आशुतोष ! हे अवढर दानी !
कुपित आपको कभी न देखा,
जिन पर आशिष-कोष लुटाये
विपदाओं की लक्ष्मण-रेखा,
जिनका रोना पल-पल मेटा
आज अश्रुजल नयन धो गया।
आज योग की महाज्योति का
परम ज्योति में विलय हो गया ॥

[५]

परम पिता ! गुरु ! रक्षक ! स्वामी !
हे जीवन आधार ! हमारे,
मात-पिता से अधिक हितैषी,
हम सब बच्चों के रखवारे।
क्या अपराध हुआ प्रभु हम से
युग-सम्बोधक आप सो गया,
आज योग की महाज्योति का
परम ज्योति में विलय हो गया ॥

[६]

हरिद्वार चण्डी देवी की
उपत्यका[7] में नश्वर काया,
छोड़ चले प्रभु अन्तर्यामी
आत्मलोक को जो मन भाया।
यशस्काय हे प्रभो ! आपका
हम सब के हित मलय हो गया,
आज योग की महाज्योति का
परम ज्योति में विलय हो गया !!

---

१. गुरुदेव चन्द्रमोहन जी महाराज, चन्द्रमा। २. गुरुदेवजी की कायिक शोभा, चांदनी। ३. मृत्यु, अमावस्या। ४. शिष्य-मण्डली, तारों का समूह। ५. संसार, समुद्र। ६. दीक्षा लेने के इच्छुक श्रद्धालु भक्त। ७. पर्वत के निकट की भूमि।

(● पृष्ठ १६ का शेष)—पिंगला के भवन में कंदर्पहर

बल्कि अनन्त मोक्ष के लिए है, क्षुद्र कामना के लिए नहीं है।

पिंगला ने कहा—"महाराज ! मेरी कामना तृप्त करने की, मेरे कल्याण की आपने प्रतिज्ञा की है, इसे क्या आप निष्फल करोगे ? साधु-पुरुष ने कहा—हे मैया ! जो प्रतिज्ञा मैंने की है, उसे मैं सफल करूँगा। अपनी प्रतिज्ञा सफल किये बिना मैं यहां से बाहर कदम भी न धरूँगा, इसके लिए तू निश्चिन्त रह, पर इस वैभव से क्या तेरी कामना तृप्त होगी ?"

साधु के ये मार्मिक वचन सुनकर पिंगला को बहुत बुरा लगा, परंतु वह क्या कर सके?

आधी रात को पिंगला झन-झनाहट करती हुई कंदर्पहर की कोठरी में गई, कंदर्पहर के सामने बैठकर साधु से चरण दबाने की प्रार्थना की। तब साधु ने कहा—"यह समय हमारे ध्यान धरने का है। इस ध्यान से निश्चिन्त होने पर तेरी जो इच्छा हो सो पूरी करना।" पिंगला साधु के समीप देर रात तक बैठी रही, परन्तु साधु की समाधि न खुली।

आज पिंगला का प्रेम क्रोध के रूप में बदल गया। जैसे-जैसे रात्रि का समय समीप आता जाता है, त्यों त्यों वह अधिक अधीर बनती जाती है। आज जो कंदर्पहर उसकी इच्छा के अनुसार न हो, तो उसके प्राण लेने का गणिका ने निश्चय किया, एक तीक्ष्ण कटार अपने पास छिपा रखा है। पिंगला अपना मोहपन दिखाती हुई कंदर्पहर के कमरे में गई। कंदर्पहर ॐकार के जप में एकतार था, उसे कुछ भी भान न था।

इस समय पिंगला की रग-रग में काम व्याप रहा था। उसने एकदम खड़े होकर ऋषिराज का हाथ पकड़ा और कहा—हे महाराज ! मेरे प्राणप्रिय ! आप पलंग पर चलो और मेरे जीव को तृप्त करो और ये व्यर्थ की बातें छोड़ दो।

ऋषि ने कहा—"मैया ! धीरज धर तेरी इच्छा तृप्त होगी, तू उतावली क्यों बनती है, आज क्या जल्दी है। ऋषिराज का यह वचन सुनते ही पिंगला क्रोधांध हो गई। वह मिथ्याचारिणी बन गई। खंजर निकालकर ऋषि को धक्का देकर गिरा दिया।" अरे साधुड़े। आज कितने दिन हुए, तबसे मुझे छला करता है। जो तू आज मेरी इच्छा तृप्त नहीं करेगा, तो मैं तुझे इस कटार से मार डालूँगी।" ●

भूल सुधार

'सिद्धयोग' के गत नवम्बर मासिक अङ्क में पूज्य गुरुदेवजी के जन्म-दिवस समारोह का जो विवरण प्रकाशित हुआ था, उसमें माता कौशल्यादेवी जो उपस्थित नहीं थी, किन्तु समाचार प्रेषक की भूल से उत्सव में उनकी उपस्थिति का उल्लेख है। इस भूल के लिए हमें खेद है।

—सम्पादक एवं प्रकाशक

श्रद्धा सुमन

श्री अशोक कुमार गुप्ता, विक्टोरिया पार्क, मेरठ

सद्गुरु देता जा बस रहमत की भीख।

ढूंढ रही है तुझे निगाहें
तेरे बिना हम कुछ न चाहें
क्या-क्या खोकर क्या-क्या पाया
प्रेम से तुम हमको समझाना ये नुखते बारीक
सद्गुरु देता जा बस रहमत की भीख ॥१।

हर धड़कन का जाप तू ही है
तू है अन्त अलाप तू ही है
कभी हँसाया कभी रुलाया
तेरी पूजा में फर्क न आया, तेरा ही रस्ता ठीक
सद्गुरु देता जा देता जा बस रहमत की भीख ॥२॥

दुनिया पीछे छोड़ के आये
अच्छे कर्म ही तुम तक लाये
एक ही आशा करदो पूरी
दूर करो हमसे ये दूरी, आ जाओ नजदीक
सद्गुरु देता जा देता जा बस रहमत की भीख ॥३॥

—0 आवश्यक सूचना 0—

श्रीसिद्ध गुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र सवाई (आगरा) के पते पर कुछ गुरु भाइयों ने माता कौशल्यादेवीजी के नाम अपने पत्र प्रेषित किये हैं, जो उन्हें उनके वर्तमान पते पर द्वारा सोमदत्त शर्मा, एम. ए. (प्रभाकर) मु० व पो० सालवन, जिला-पानीपत (हरियाणा) भेज दिये गये हैं। भविष्य में उपरोक्त पते पर ही उन्हें पत्र भेजे जाने चाहिए। आश्रम में तो वह केवल जन्माष्टमी पर ही आई थीं और उसके तुरन्त एक सप्ताह बाद वापिस चली गयीं। सूचनार्थ निवेदन है।

ब्र० सत्येन्द्र
योग-प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (आगरा)

SIDDHAYOGA – Regd. No. L. AG. 008, DECEMBER, 1990

प्रेषक कार्यालय : —

सि द्ध यो ग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा

PRINTED MATTER
Book-Post

श्री

1925
सुरेन्द्र कुमार त्रिपाठी
श्री एन. डी. दण्डोतिया सरकारी वकील
का मकान गणेशपुरा मुरैना म. प्र.

वानप्रस्थाश्रम

जब मनुष्य अपने ही प्रपंच में फंसा रहता है, तब उसका विकास हो जाता है, इसलिए गृहस्थाश्रमी व्यक्ति ने समस्त समाज को ही अपना परिवार मानना चाहिए। इसको वानप्रस्थ भी कह सकते है। वानप्रस्थ यानी समाज-सेवा का व्रत, विषयासक्ति से मुक्ति। विषयासक्ति अपने आप नहीं छूटती। अगर मनुष्य स्वयं उसका त्याग न करे तो वह देह खतम होने तक चिपकी रहेगी, बल्कि अगले जन्म में भी उसके पीछे आयेगी। काम, क्रोध, मोह आदि विकार मन में रखकर लोग परमेश्वर की उपासना करते हैं। लेकिन भक्ति और काम-क्रोध का मेल कैसे बैठेगा। प्रकाश और अंधेरा क्या कभी इकट्ठा रहते हैं?

—विनोबा

मुद्रक–देवीप्रसाद शर्मा 'विश्व' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बड़ी कलाँ ताजगंज, आगरा । Ph. 360426.